हैं। आँख, कान, नाक आदि को इन्द्रियों का गोलक कहते हैं। परन्तु एक अर्थ में समस्त शरीर ही गोलक का काम करता है, क्योंकि स्पर्श-इन्द्रियों का गोलक (त्वचा) तो सभी शरीर में है। मांस की पेशियों आदि का भी यही हाल है।

(२) इन तन्तुओं का सम्बन्ध मस्तिष्क के भिन्न-भिन्न भागों से है।

(३) परन्तु इन भागों में एक विशेष अकथनीय सम्बन्ध है, क्योंकि यद्यपि इनके अपने-अपने क्षेत्र बने हुए हैं तो भी एक-दूसरे पर इनका प्रभाव पड़ता है। यह नहीं कहा जा सकता कि ये भिन्न-भिन्न क्षेत्र एक-दूसरे से भी सम्बन्ध नहीं रखते। यदि ऐसा होता तो ज्ञान-तन्तु प्रेरणा-तन्तुओं को किसी परोक्ष या प्रत्यक्ष साधन द्वारा प्रेरित न कर सकते और शरीर की समस्त व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो जाती।

(४) इन तन्तुओं की प्रवृत्ति समस्त शरीर में समान नहीं है, और न इनकी प्रकृति ही समान है। एक तन्तु एक प्रकार से कार्य करता है तो दूसरा दूसरे प्रकार से। यदि एक स्थान के तन्तु की प्रबलता एक मात्रा में होती है तो दूसरे स्थान के तन्तु की दूसरी मात्रा में। मुख्य और गौण, तथा साधन और साधक का भेद निश्चित ही है।

यहाँ एक तो हुई सोचनेवाली सत्ता और दूसरा हुआ सोचने का उपकरण। पहली को साधारण भाषा में अन्तःकरण (mind) कह सकते हैं और दूसरी को मस्तिष्क (brain)। संक्षेप के लिए ज्ञान, प्रेरणा और अनुभूति के समस्त व्यापारवाली सत्ता को अन्तःकरण कह लीजिये और सोचने के समस्त उपकरण को मस्तिष्क जिसमें मुख्य मस्तिष्क (brain proper) से स्नायु-संस्थान (nervous system) आ जाता है।

अब प्रश्न यह है कि अन्तःकरण और मस्तिष्क में क्या सम्बन्ध है? क्या अन्तःकरण का व्यापार मस्तिष्क के व्यापार का अनुसरण

करता है या मस्तिष्क का व्यापार अन्तःकरण के व्यापार का, या दोनों साथ-साथ चलते हैं ? और यदि वे दोनों साथ-साथ चलते हैं तो इन दोनों के ऊपर एक ऐसी शक्ति भी है जो इनमें समन्वय उत्पन्न करती रहे क्योंकि दो स्वतन्त्र और असम्बद्ध चीजें ठीक-ठीक समानान्तर नहीं जा सकतीं।

□

अध्याय १३

समानान्तरवाद
(Parallelism)

जिस प्रश्न को हमने गत अध्याय के अन्त में उठाया है, उस सम्बन्ध में आधुनिक विचारशीलों के दो मत हैं—एक नाम है समानान्तरवाद (Parallelism) और दूसरे का प्रतिक्रियावाद (Interactionism)। पहले हम समानान्तरवाद का उल्लेख करते हैं।

समानान्तरवाद के पक्षपातियों का दावा है कि अन्त:करण में जो छोटे-से-छोटे या बड़े-से-बड़े विचार उठते हैं, उन्हीं के अनुसार स्नायु-संस्थान तथा विशेषकर मस्तिष्क में भी उसी प्रकार के परिवर्तन होते रहते हैं। जिस प्रकार रेलगाड़ी की लोहे की दो पटरियाँ समानान्तर रहती हैं और जब एक पटरी पर एक तरफ का पहिया चलता है तभी दूसरी पटरी पर दूसरी तरफ का पहिया चलता है। इसी प्रकार अन्त:करण और स्नायु-संस्थान दो समानान्तर पटरियाँ हैं। जहाँ एक में किसी प्रकार का परिवर्तन हुआ वहाँ दूसरे में भी उसी के अनुसार परिवर्तन होगा।

यदि ऊपरी दृष्टि से देखा जाय तो यह मत ठीक प्रतीत होता है, परन्तु थोड़ा-सा भी अधिक विचार करने से पता चल जाता है कि इस मत को मानने में कई आपत्तियाँ हैं। स्टौट महोदय ने ये आक्षेप किये हैं—

पहला आक्षेप

"The range of irreducible attributes postulated in neural process are greatly out-numbered by the range of irreducible attributes and relations which enter into the conscious correlates. We are, therefore, compelled to conclude either that some of the constituents of experience are devoid of a neural correlate or that the same kind of neural character has to correspond to radically different factors in mental life." (Stout's Psychology, p. 78)

अर्थात्—तन्तुओं में कितनी तब्दीलियाँ होना सम्भव है उनसे कहीं अधिक तब्दीलियाँ मन में हो जाया करती हैं। शरीर में तन्तुओं की संख्या और उनके परस्पर सम्बन्ध की सीमा हो सकती है, परन्तु विचार-तरंगों और उनके परस्पर सम्बन्ध की सीमा होना कठिन है। यदि विचार-तरंगों की जटिलता पर विचार किया जाय तो एक तरंग में से इतनी अन्य तरंगें उठ खड़ी होती हैं कि उन सबके लिए एक-एक तन्तु खोजना असम्भव है। इससे दो ही नतीजे निकल सकते हैं—या तो यह मानें कि किसी-किसी विचार-तरंग के लिए तन्तु हैं ही नहीं, या एक ही तन्तु भिन्न-भिन्न विचार-तरंग उत्पन्न कर सकते हैं। दोनों दशाओं में समानान्तरवाद स्थापित नहीं हो सकता।"

इस आक्षेप को अधिक स्पष्ट करने के लिए तार का दृष्टान्त देना ठीक होगा। एक तारघर से दूसरे तारघर तक एक तार लगा हुआ है। उसी पर भिन्न-भिन्न खबरें जाती हैं। तार बाबू का मस्तिष्क तार के उपकरण से अपनी बुद्धिमत्ता से काम लेता है। इसलिए एक ही तार द्वारा सहस्रों प्रकार के सन्देश भेजे जा सकते हैं। तार बाबू के मस्तिष्क और तारों में समानान्तर भाव नहीं है, क्योंकि तार बाबू के मस्तिष्क में जितने भाव हैं उतने ही तार में नहीं। यह अवश्य है कि बाबू के मस्तिष्क में जब तब्दीली होती है

तो तार में भी उसी के अनुसार गति उत्पन्न होती है, परन्तु प्रत्येक तब्दीली के लिए अलग-अलग तार नहीं है, और न गतियाँ ही उसी प्रकार की हैं। कल्पना कीजिये कि तार बाबू ने संदेश भेजा 'भाई घर पर है'। फिर उसने संदेश भेजा 'चिड़ियों के पर कट गये'। यहाँ दोनों वाक्यों में 'पर' शब्द आया। यह 'पर' का संदेश भेजने में दोनों दशाओं में तार की गति एक-सी होगी, परन्तु तार बाबू के मस्तिष्क में पहले 'पर' के द्वारा जो तरंग उठेगी उससे सर्वथा भिन्न तरंग दूसरे 'पर' से उठेगी।

दूसरा आक्षेप

"It is difficult to see what can be the physiological counter part of the unity and identity of the conscious self and of its own awareness of itself as one and identical. Nothing like it is conceivable in the brain or in any part of the material world as ordinarily conceived. Matter is infinitely divisible, and every portion into which it can be divided is just as much a distinct and independent material substance, just as much a separate parcel of matter, as any other. But the conscious self is not divisible into conscious selves. It is in the strictest sense individual or indivisible." (p. 79)

अर्थात्—शरीर में कोई ऐसा अंग नहीं है जो विचार करने-वाली सत्ता के ऐक्य और ऐक्य-ज्ञान की बराबरी कर सके। हमारे विचारों में ऐक्य है, इसके भाग नहीं किये जा सकते। परन्तु शरीर, मस्तिष्क या भौतिक संसार के अनन्त भाग हो सकते हैं। जितने टुकड़े करते जाओ, उतने ही अलग-अलग स्वतन्त्र अणु बनते जायँगे। विचारों के इस प्रकार के भाग नहीं कर सकते, और न विचारशील सत्ता के टुकड़े किये जा सकते हैं। वह अखण्ड है, और शरीर सखण्ड। इसलिए अखण्ड और सखण्ड वस्तुओं में समानान्तर भाव नहीं रह सकता। हम अपने 'मैं' को

कई खण्डों में नहीं बाँट सकते। हमारी अनुभूति हमको यही बताती है कि हम 'एक' और 'अखण्ड' सत्ता हैं। इसके अनुकूल शरीर में कोई ऐसा अंग है ही नहीं।

तीसरा आक्षेप

"When I compare a sensation of purple with a sensation of blue and apprehend their likeness and difference, the sensations are distinct, but my apprehension of them in their relation to each other is a single act, having a unique sort of unity to which there can be nothing at all similar in the material world. The utmost parallelism can maintain is that the unity of consciousness always accompanies a specially systematic and intimate connection between certain groups of neurons. But this connection cannot, from the nature of the case, be fundamentally different in kind from all other material connections, as the unity of consciousness is fundamentally different from all other forms of unity." (p. 79)

अर्थात्—जब मैं लाल रंग की अनुभूति की नीले रंग की अनुभूति से तुलना करता हूँ और उनकी समानता और भिन्नता का अनुभव करता हूँ तो ये अनुभूतियाँ अलग-अलग प्रतीत होती हैं। परन्तु इन अनुभूतियों का परस्पर सम्बन्ध 'एक कार्य' है। इसमें एक विचित्र प्रकार की एकता है जिसकी समानता भौतिक संसार में मिलती ही नहीं। समानान्तरवाद केवल इतना मान सकता है कि प्रतीति की इस एकता के साथ-साथ स्नायु-कोष्ठों में भी एक नियमित और विशेष सम्बन्ध उत्पन्न हो जाता है। परन्तु यह सम्बन्ध तो अन्य सभी भौतिक सम्बन्धों के समान है। प्रतीति की एकता ऐसी एकता है जो अन्य एकताओं से सर्वथा भिन्न है।

शायद पाठकगण इस युक्ति को भली-भाँति समझे न हों, इसलिए अधिक खोलने की आवश्यकता है। तात्पर्य यह है कि यदि

अन्तःकरण और स्नायु-संस्थान के व्यापारों में समानान्तरता मानी जाय तो मानना पड़ेगा कि जब मुझे लाल रंग की प्रतीति हुई तो स्नायु-संस्थान के तन्तुओं में एक प्रकार का विकार हुआ और जब नीले रंग की प्रतीति हुई तो दूसरे प्रकार का। परन्तु जब मैं इन दोनों प्रतीतियों की तुलना करने लगता हूँ तो मुझे लाल रंग की प्रतीति और नीले रंग की प्रतीति, इन दो प्रतीतियों से भिन्न एक और तीसरी प्रतीति भी होती है। इस तुलनात्मक तीसरी प्रतीति के समानान्तर तन्तुओं में कौन-सी परिस्थिति उत्पन्न होगी? कल्पना कीजिये कि एक लाल चीज़ मेरे सामने आई। इसकी भौतिक व्याख्या यह हुई कि मेरी चक्षु-इन्द्रिय पर किसी पदार्थ-विशेष ने प्रभाव डाला। उसने इन्द्रिय-तन्तुओं को उत्तेजित किया। इसी प्रकार नीले पदार्थ ने किन्हीं अन्य तन्तुओं को उत्तेजित किया। यहाँ तक तो समानान्तरवाद ने साथ दिया। अब एक कदम आगे चलिये। जब मैं लाल रंग और नीले रंग की प्रतीतियों को तुलनात्मक दृष्टि से देखने लगा और इन दोनों की समानता और भिन्नता पर विचार करने लगा तो एक तीसरे प्रकार की प्रतीति उत्पन्न हो गई जो पहली प्रतीतियों से भिन्न हुई। परन्तु इसके समानान्तर कोई भौतिक परिवर्तन सम्भव नहीं है, अर्थात् समानान्तरवाद कुछ दूर चलकर ही रह गया। वह हमारे सोचने के व्यापार की पूरी मीमांसा नहीं कर सका।

चौथा आक्षेप

"It is equally clear that the relation of the knowing or willing subject to its object cannot be paralleled by any possible relation between material things. I think of the civil war in China, or of the interpretation of $\sqrt{-1}$ or of the other side of the moon or of my having voted yesterday in the town council election. These are the objects which I mean, to which I intend to refer. But when I thus

mentally refer to $\sqrt{-1}$ as having an interpretation, obviously there can be no analogous relation of my body or my brain to the roof of—1. Material things may be near each other in space, they may casually interact with each other but they cannot do anything like *meaning* or *intending* each other." (p. 80)

अर्थात्—यह भी स्पष्ट ही है कि जानने या प्रेरणा करनेवाले विषयी का विषय से जो सम्बन्ध है उसके समानान्तर भौतिक दुनिया में कोई सम्बन्ध है ही नहीं। मैं चीन के आन्तरिक युद्ध की बाबत सोचूँ या $\sqrt{-१}$ के अर्थ की बाबत, या यह कि चाँद के दूसरी ओर क्या है, अथवा यह कि मैंने कल म्यूनिसिपल-निर्वाचन में वोट दिया--ये विषय हैं जिनकी बावत मैं सोचना चाहता हूँ। परन्तु जब मैं सोचता हूँ कि $\sqrt{-१}$ का भी कुछ अर्थ है तो इसके समानान्तर मेरे मस्तिष्क के तन्तुओं में कोई क्रिया नहीं होती। भौतिक वस्तुएँ आकाश में एक-दूसरी के निकट रह सकती हैं, वे एक-दूसरी पर प्रभाव डाल सकती हैं, परन्तु वे एक-दूसरी की व्याख्या नहीं कर सकतीं।

तात्पर्य यह है कि विषय और विषयी का सम्बन्ध एक निराला सम्बन्ध है। भौतिक संसार या केवल शरीर में ऐसा कोई सम्बन्ध है ही नहीं।

पाँचवाँ आक्षेप

"The crucial problem for parallelism is to show neural correlates for the boundless variety of special relations on which association depends." (p. 81)

अर्थात्—"समानान्तरवाद यह नहीं बता सकता कि भिन्न-भिन्न विचारों के विशेष सम्बन्धों की असंख्य कोटियाँ हैं, उनके समानान्तर स्नायु-संस्थान के तन्तुओं में कौन-कौन परिवर्त्तन होते हैं।" इसके बहुत-से दृष्टान्त दिये जा सकते हैं। कल्पना कीजिये कि

मैंने कहीं 'राजा' शब्द लिखा देखा। इस शब्द के देखते ही मुझे यह याद आ गई कि यह शब्द संस्कृत के 'राऽजृदीप्तौ' धातु से बना है, या यह याद आ गई कि 'राजा' शब्द का स्त्रीलिंग 'रानी' बनता है, या इतिहास-सम्बन्धी किसी राजा की याद आ गई या जिस राजा से मेरा परिचय है उनका विचार आ गया। इस प्रकार एक 'राजा' शब्द को लिखा देखकर मन में पचासों तरंगें उठ सकती हैं। उन सबके लिए तन्तुओं का सम्बन्ध जोड़ना असम्भव है।

एक दूसरा उदाहरण नीचे लिखे पद का लीजिये--

नयन नीर विरही जन का यह।
सरस भाव कवि के मन का यह।।
तथा यही सत्व्रती साधु के, जीवन का व्यवहार।
प्रेम ही वस्तु मात्र का सार।।

यहाँ प्रेम का विरहीजन के आँसुओं, कवि के मन के भावों, और साधु के सत् व्रतों से सम्बन्ध बताया गया है। जो काव्यरस को जानते हैं वे समझ सकते हैं कि इस एक पद के पढ़ने से ही कितने सूक्ष्म विचारों के असंख्य सम्बन्धों की जागृति मन में हो जाती है। क्या समानान्तरवाद इनकी व्याख्या कर सकता है? कदापि नहीं।

महामंत्री
दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा (पं०)
15 हनुमान रोड, नई दिल्ली-110001

छठा आक्षेप

"The clearest and most typical cases are supplied by the acquistion of bodily aptitudes for such actions as walking, speaking, swimming, dancing and so forth. Now these are not learned merely by passive repetition of movements which we have chanced to make in the past. They involve throughout a selective activity by which unsuitable modes of behaviour are weeded out and suitable modes of behaviour are stamped in. The interest, aim

or purpose of the subject is, at every step, a controlling factor which excludes what does not satisfy it and retains and respects what does satisfy it." (p. 83)

अर्थात्—"हमको चलने, बोलने, तैरने, नाचने आदि शारीरिक व्यापारों का जो निरन्तर अभ्यास हो जाता है, उसकी विधि भी यही बताती है कि समानान्तरवाद काम नहीं देता। लोग समझते हैं कि शारीरिक अंगों को विशेष प्रकार की गतियों को दुहराते ही अभ्यास पड़ जाता है, परन्तु यह बड़ी भूल है। वस्तुत: बात यह है कि समस्त अभ्यासों से एक आन्तरिक निर्वाचक शक्ति भी काम करती है जो अनिष्ट गतियों को त्यागती और इष्ट गतियों को ग्रहण करती है।"

कल्पना कीजिये कि एक बच्चे ने दौड़ना सीखा। इस दौड़ने के अभ्यासकी समस्या को केवल शारीरिक तन्तुओं के आधारपर हल करना है। प्राय: कहा यह जायगा कि बच्चे ने चलने की कोशिश की। इसने पेशियों पर प्रभाव डाला। उन पेशियों में एक विशेष गति उत्पन्न हुई। यह गति बार-बार होती रही और पेशियों को विशेष प्रकारसे चलने का अभ्यास हो गया, जैसे गाड़ी के पहिये कच्चे मार्ग में लीक बना लेते हैं और बड़ी सुगमता से उसी लीक में चले जाते हैं। परन्तु यह बात गलत है। पहले जो बच्चा चलने लगा तो बार-बार गिरता पड़ता था, उसके चोट भी लगती थी। इस प्रकार आरम्भ में जितनी बार गिरने का अभ्यास दुहराया जाता है, उतना चलने का नहीं। यदि गतियों के दुहराने से ही पेशियाँ अभ्यस्त हो जातीं तो गिरने का अभ्यास भी हो जाना चाहिये था और इस प्रकार बच्चा कभी दौड़ना न सीखता। परन्तु बात यह है कि अभ्यास करने में बच्चे का एक **उद्देश्य** और दूसरी **निर्वाचन-शक्ति**, ये दो व्यापार और भी शामिल थे। उसका उद्देश्य था कि मैं दौड़ने लगूँ। यह उद्देश्य शारीरिक व्यापार नहीं है। दूसरी है निर्वाचन-शक्ति अर्थात् उस उद्देश्य की पूर्ति में जो गति सहायक है, उसको तो बच्चा रखता है और जो गति बाधक है उसको छोड़ने का यत्न

करता है। यह निर्वाचन का व्यापार भी शारीरिक नहीं है, किन्तु भीतर से उठता है। बच्चा जब चलने में गिर पड़ता है और उठकर फिर चलता है तो स्पष्ट रीति से यह कहता हुआ प्रतीत होता है कि अब की बार मैं अपने शरीर के अङ्गों को इस रीति से चलने न दूंगा। इसका अर्थ ही यह है कि केवल शरीर के अङ्गों का ही यह व्यापार नहीं है।

सातवाँ आक्षेप

"We must also recognise as an essential factor the controlling influence of subjective interest, the direction of conscious life towards ends. The question for parallelism is whether any likely physiological correlate can be found for this teleslogical control. The psychical factor is plainly revealed to us in every moment of our lines, it is a *vera causa*, one which is independently known to exist. If it has such a nervous counterpart as must be assumed by a consistent parallelist, the nervous counterpart is certainly not independently known." (p. 84)

तात्पर्य यह है कि "हमारे प्रत्येक विचार में एक अन्तिम उद्देश्य का संकेत है। समानान्तरवाद यह नहीं बता सकता कि इस उद्देश्य के समानान्तर शरीर में कौन-सा अवयव या कौन-सी गति है। मानसिक व्यापार तो स्पष्ट दीखता है, परन्तु उसी के समानान्तर तन्तुओं के व्यापार का ज्ञान नहीं होता।"

कुछ लोग केवल इतना कह सकते हैं कि हमको इस समय अपने मस्तिष्क के समस्त तन्तुओं का पूरा ज्ञान नहीं है, अतः हम बता नहीं सकते। परन्तु यह निषेधात्मक युक्ति तो कोई युक्ति नहीं है। ऐसा कहनेवाले तो स्पष्ट मान लेते हैं कि उनके पास अपनी प्रतिज्ञा को सिद्ध करने के लिए कोई प्रमाण नहीं है।

आठवाँ आक्षेप

"It is familiar truth that the first acquisition of a habit or an association requires attentive effort and clear consciousness of the several steps of the process, and that with repetition the process goes on more 'automatically' and easily, and with less clear consciousness of the end, or of the steps, or of the impressions by which it is guided, after sufficient repetition, it seems to go on without any effort or attention, and without ever being conscious of it save possibly in an extremely obscure fashion."

(Mc. Dougall quoted op. cit. p. 276, **Psychology** 85)

तात्पर्य यह है कि समानान्तरवाद ध्यान की वृत्ति के समानान्तर कोई शारीरिक क्रिया बता नहीं सकता। जब हम किसी काम को पहली बार करते हैं तो बड़े ध्यान से करते हैं। बच्चा पहली बार जब लिखने बैठता है तो बड़े ध्यान से कलम पकड़ता है। ज्यों-ज्यों लिखने लगता है यह ध्यान कम हो जाता है। अच्छे लेखक नाममात्र ध्यान से भी बहुत अच्छा लिख सकते हैं। इसका अर्थ यह है कि जब पेशियों को आदत न थी तब तो ध्यान देने की प्रवृत्ति अधिक थी, जब पेशियों को आदत पड़ गई तो यह प्रवृत्ति कम हो गई। यदि मानसिक ध्यान का कोई शारीरिक समानान्तर होता तो आदत के बढ़ने से ध्यान भी बढ़ना चाहिए था।" इससे सिद्ध होता है कि समानान्तरवाद ठीक नहीं।

डॉक्टर टेलर ने समानान्तरवाद में एक और हेत्वाभास दिखाया है—

"Parallelism, taken for anything more than a convenient working hypothesis, would involve a flagrant breach of logic. It is obvious that, as Mr. Bradley has urged, you cannot infer from the premises that one total

state, containing both physical and a psychical element, causes another complex state of the same kind, the conclusion that the physical aspect of the first by itself, has caused the pbysical and the psychical aspect of the second. To get this conclusion you need a 'negative instance' in which either the pbysical or the psychical state is found a part from its correlate, but followed by tbe same consequent as before and Parallelism itself denies the possibility of such an instance. From the premises that A a is always followed by B b, it attempts to infer, without any 'dissection of nature', that A by itself was the necessary and efficient condition of B and a of b. And this is, of course, logically fallacious. Dr. Ward expresses tbe same point differently when he urges that unvarying and precise noncomittance without causal connection is a logical absurdity."

(**Elements of Metaphysics** by A.E. Taylor, p. 326)

टेलर महोदय का कहना है कि "यदि समानान्तरवाद को गौण रीति से काम चलाने के लिए मान लिया जाय तो कुछ हर्ज नहीं। परन्तु मौलिक सिद्धान्त के रूप में इसमें हेत्वाभास आता है। उन्होंने मिस्टर ब्रैडल के एक आक्षेप का उद्धरण दिया है। वह कहते हैं कि यदि एक शारीरिक और एक मानसिक दो घटनाओं के संयोग से एक अन्य मानसिक घटना का संयोग उत्पन्न हो जाय तो यह नतीजा कैसे निकल सकता है कि शारीरिक घटना से शारीरिक और मानसिक घटना से माननिक घटना उत्पन्न हो गई ? ऐसा नतीजा निकालने के लिए तो व्यतिरेक चाहिये अर्थात् कोई शारीरिक घटना तो हो और मानसिक न हो, फिर भी उससे पहली ही घटना उत्पन्न हो। यदि व्यतिरेक होता है, तब तो समानान्तरवाद धड़ाम से आ गिरता है क्योंकि समानान्तरवाद की कल्पना ही इस आधार पर हुई है कि व्यतिरेक असम्भव है। कल्पना कीजिये कि शारीरिक 'क का समानान्तर है मानसिक च'। इस

क+च के संयोग से ख+छ की उत्पत्ति हुई, अर्थात् शारीरिक 'ख' और मानसिक 'छ' की। यदि इसका अर्थ यह निकालें कि क+च से ख+छ की उत्पत्ति होती है तो यह नतीजा बिल्कुल ग़लत होगा कि 'क' से 'ख' उत्पन्न हुआ और 'च' से 'छ'। डॉक्टर वार्ड का कहना है कि निरन्तर समानान्तरवाद शरीर और मन में कारण-कार्य-सम्बन्ध स्थापित नहीं करता।"

अध्याय १४

प्रतिक्रियावाद
(Inter-actionism)

पिछले अध्याय में यह दिखाने की कोशिश की गई कि समानान्तरवाद सन्तोषजनक नहीं है। यह सच है कि मानसिक और शारीरिक व्यापारों में थोड़ी-सी अनुकूलता है, परन्तु अनुकूलता पूर्णरूप से सिद्ध नहीं होती। इस कठिनाई को दूर करने के लिए प्रतिक्रियावाद चलाया गया है। इसका सिद्धान्त यह है कि जीवन एक स्वतन्त्र सत्ता है जो स्नायु-संस्थान पर शासन करती और उसमें परिवर्तन लाती है।

"On this view, when my desire to light a cigarette is followed by the bodily movement of striking a match, this is not due merely to the brain processes which accompany the occurrence of the desire. It involves also the operation of the desire itself, controlling and modifying nervous occurrences, so that they follow a course which they would not have followed if left to themselves."

(Stout's Psychology, P. 85)

अर्थात्—प्रतिक्रियावाद के अनुसार जब मुझे सिगरेट जलाने की इच्छा हुई और मैंने दियासलाई को हाथ से जलाया तो इसमें केवल मस्तिष्क के कोष्ठों और तन्तुओं की क्रिया ही नहीं हुई, अपितु इच्छा ने भी काम किया और तन्तुओं को एक विशेष रीति से चलाया। यदि भौतिक तन्तु न होते और उनके सिवाय अन्य कोई सत्ता न होती तो कदापि ऐसा न हो सकता।"

पाठकगण शायद पूछने लगें कि क्या इस सिद्धान्त के अनुसार वैज्ञानिक घटनाओं की व्याख्या हो सकती है? उदाहरण के लिए यह पूछा जा सकता है कि क्लोरोफ़ॉर्म देने पर बेहोशी क्यों हो जाती है? उस समय विचार करनेवाली सत्ता स्वयं काम क्यों नहीं कर सकती? स्टौट महोदय ने इसका उत्तर यह दिया है—

"Nervous processes, it would be admitted, are indeed indispensable conditions of consciousness, but not the only indispensable conditions. A proper supply of blood containing oxygen is necessary to the nervous processes themselves, without such a blood-supply the metabolism in the cells of the nervous system connot go on. But it would be absurd to argue that the blood-supply is the sole condition of nervous metabolism and that the neurons themselves and their peculiar constitution have nothing to do with it or that they themselves in their turn have no effect on the blood-supply. Similarly, there may be a soul distinct from the body and interacting with it although the conscious life of which this soul is the subject can only go on in connection with certain nervous processes taking place in the cerebral cartex." (P. 86)

अर्थात्—"यद्यपि संज्ञान के लिए स्नायु-संस्थान के संचालन की आवश्यकता है, परन्तु केवल इसी की आवश्यकता नहीं है। स्नायु-संस्थान के संचालन के लिए ओषजन-सहित रुधिर की एक विशेष मात्रा की भी आवश्यकता है। बिना रुधिर के तन्तु काम ही नहीं कर सकते। परन्तु यह कहना भी अनर्थ होगा कि तन्तु-संचालन के लिए केवल रुधिर की आवश्यकता है और तन्तुओं की अपनी विशेषताओं का उससे कोई सम्बन्ध नहीं, अथवा तन्तुओं का रुधिर की मात्रा पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इसी प्रकार यह हो सकता है कि शरीर से इतर आत्मा की एक स्वतन्त्र सत्ता हो, परन्तु आत्मा में जो संज्ञान का प्रकाशन होता है वह मस्तिष्क के तन्तुओं की विशेष गति के बिना न हो सके।"

इसका दूसरे शब्दों में यह अर्थ है कि प्रतिक्रियावाद के सिद्धान्त के अनुकूल आत्मा या ज्ञानवाली एक अलग सत्ता समझी जा सकती है जिसका उपकरण मस्तिष्क है। उपकरण का अर्थ ही यह है कि बिना उपकरण के काम न चल सके। परन्तु इससे उपकरण के प्रयोग करनेवाली स्वतन्त्र सत्ता का निषेध नहीं हो सकता। क्लोरोफ़ॉर्म देने से यह उपकरण बिगड़ जाता है, इसीलिए संज्ञा-भंग (बेहोशी) हो जाती है।

"Nor is the state of the case altered when we take into account the ascertained facts of cerebral localisation. What follows from these facts is simply this, we cannot have certain experiences in the way of sensation and sensational imagery, unless certain circumscribed areas of the cerebral cortex are excited. But it does not follow that no other condition is ultimately involved in the occurence of sensations and images. Thc sensations and images are themselves utterly heterogeneous in nature from anything which takes place in the cortex; and this naturally suggests the presence of some other factor to account for their peculiar nature. From this point of view of physical science we look for no consequences from merely physical condition except physical consequences. When therefore something comes into being radically distinct from any material state or process, it would seem that we must either treat its emergence as something totally mysterious and unaccountable from the scientific point of view, or postulate the co-operation of factor which is not itself material." (P. 87)

अर्थात्—"प्रतिक्रियावाद के सिद्धान्त के अनुसार मस्तिष्क को भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में और प्रेरणाओं की भिन्नता के अनुकूल बाँटने की क्यों आवश्यकता होगी? इस प्रश्न का भी वही उत्तर है जो ऊपर दिया गया, अर्थात् जब हम कहते हैं कि मस्तिष्क के अमुक क्षेत्र को प्रभावित करने से अमुक प्रकार की संज्ञा उत्पन्न होती

है या अमुक प्रकार की प्रेरणा होती है तो इसका यह तात्पर्य नहीं है कि केवल अमुक क्षेत्र को प्रभावित करना ही पर्याप्त है और इसके अतिरिक्त अन्य किसी शक्ति की आवश्यकता नहीं। वस्तुतः मस्तिष्क में जो-कुछ व्यापार होता है वह संज्ञा आदि मानसिक व्यापारों से सर्वथा भिन्न है। इसलिए स्वभावतः यह मानना पड़ता है कि इस संज्ञान के लिए कोई अन्य सत्ता चाहिए। भौतिक विज्ञान का तो यही नियम है कि भौतिक परिस्थितियों से भौतिक ही परिणाम निकल सकते हैं, अभौतिक नहीं। इसलिए यदि कोई अभौतिक परिणाम उत्पन्न हो जाय तो उसके लिए केवल दो बातें मानी जा सकती हैं—एक यह कि कुछ रहस्य है जो समझ में आ ही नहीं सकता और जिसकी मीमांसा ही व्यर्थ है, और दूसरी यह कि भौतिक पदार्थों से अलग एक अभौतिक सत्ता है जिसके कारण ये परिणाम हुआ करते हैं।"

परन्तु प्रतिक्रियावाद पर भी लोगों ने कुछ आपत्तियाँ उठाई हैं, जैसे—

"The natural sciences in dealing with material world and its processes, demand that all factors, agencies and conditions which are not themselves material should be excluded. All motion and all redistribution of material energy must on this view be explained according to general laws as the result of previous motion and distribution of energy.

This principle is applied, not only to inorganic matter, but also to living organisms and particular, to occurences within the brains of men and animals.

Now if we suppose that in consequence of the agency of any immaterial existence or occurence something happens within the cerebral cortex which would not otherwise happen in the same way as the outcome of purely material condition, the unbroken continuity of physical explanation is destroyed." (P. 81)

"भौतिक विज्ञान का नियम यह है कि भौतिक जगत् की भिन्न-भिन्न घटनाओं की व्यवस्था करनी हो तो किसी ऐसी सत्ता की सहायता नहीं लेते जो भौतिक नहीं है। इस सिद्धान्त के अनुसार सम्पूर्ण गति और सम्पूर्ण सामर्थ्य-विभाजन पहली गति और पहले सामर्थ्य-विभाजन का परिणाम होते हैं।

यह नियम निर्जीव (अकार्बनिक) और सजीव (कार्बनिक) दोनों प्रकार के पदार्थों पर लागू होता है। मनुष्यों और पशुओं के मस्तिष्क के व्यापारों की व्याख्या भी इसी रीति से की जाती है।

प्रतिक्रियावाद-सिद्धान्त में आपत्ति यह है कि यदि हम कोई ऐसी अभौतिक सत्ता मानते हैं जिसके कारण मस्तिष्क में वे परिवर्त्तन हो जाते हैं जो अभौतिक कारणों से नहीं हो सकते, तो भौतिक व्याख्या की निरन्तर शृङ्खला टूट जाती है।"

अब ज़रा देखिये कि मस्तिष्क-सम्बन्धी बातों की व्याख्या भौतिक विज्ञान किस प्रकार करता है? हमने एक उदाहरण दिया था कि जब मैं सिगार पीना चाहता हूँ तो मेरा हाथ दियासलाई जलाने लगता है। इस सम्बन्ध में प्रतिक्रियावादी कहते हैं कि यह इच्छा भौतिक कारणों से उत्पन्न नहीं हो सकती, इसलिए इसके लिए एक अभौतिक आत्मा की सत्ता माननी चाहिये। भौतिक विज्ञान इससे सहमत नहीं है। उसका सिद्धान्त है कि मस्तिष्क में ही कोई ऐसी भौतिक परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है जिसको हम सिगरेट पीने की इच्छा कहते हैं और जब-जब उस प्रकार की परिस्थिति उत्पन्न होगी, तभी-तभी उस प्रकार की इच्छा भी अवश्य उत्पन्न हो जायगी।

सामर्थ्य की अविनाशता (Conservation of energy) का नियम यह है कि भौतिक जगत् में सामर्थ्य न तो उत्पन्न किया जा सकता है और न उसको नष्ट कर सकते हैं; केवल उसको इधर से उधर बाँट सकते हैं। जो सामर्थ्य पहले न था वह अब आ नहीं सकता। जो सामर्थ्य है वह नष्ट नहीं हो सकता। हाँ, जो सामर्थ्य एक स्थान में है वह दूसरे स्थान में भेजा जा सकता है। भौतिक

विज्ञानवेत्ताओं ने नाप-तोल करके पता लगाया है* कि मनुष्य के शरीर में जितने सामर्थ्य की मात्रा है वह उस मात्रा के लगभग बराबर है जो शरीर द्वारा प्राप्त किये हुए भोजन और ओषजन में होती है।

इससे सिद्ध होता है कि मनुष्य के शरीर में भोजन आदि के सामर्थ्य की मात्रा से अधिक और सामर्थ्य उत्पन्न ही नहीं होता। फिर व्यर्थ क्यों माना जाय कि भौतिक पदार्थों से इतर अभौतिक आत्मा भी कोई पदार्थ है जिसके बिना मस्तिष्क के व्यापार हो ही नहीं सकते ? यदि आत्मा का शरीर पर कुछ प्रभाव पड़ता होता तो सामर्थ्य में अवश्य कुछ-न-कुछ आधिक्य होता।

इस आक्षेप का लैड (Ladd) महोदय ने अधिक स्पष्ट शब्दों में इस प्रकार का वर्णन किया है—

"Few will question the statement, that any so-called influence, or causal action, of body and mind upon each other, is capable of expression in terms of the conservation and correlation of physical energy. Energy, whether stored or kinetic, when the nerve-cell of the cerebral centres become stored or kinetic in the assumed subject of mental phenomena.........Mental energy ever passes over into the brain, no nervous energy ever passes over into the mind." (**Outlines of Physiological Psychology** by George Trumbull Ladd, Professor of Philosophy in Yale University)

"यह तो सभी को मानना पड़ेगा कि शरीर और मन की परस्पर प्रतिक्रिया भौतिक सामर्थ्य की अविनाशता और सम्बन्ध

---

* "The energy-value of the output of the human body in the form of work, heat, chemical products and so forth equals almost exactly the energy-value of food and oxygen absorbed—that is, the value of the sum-total of energy supplied to the body." (Mc. Dougall, op. cit. p. 93)

द्वारा मीमांसित नहीं हो सकती। जो सामर्थ्य मस्तिष्क के केन्द्रों के तन्तु-कोष्ठों में है, चाहे वह स्थित्यात्मक हो या गत्यात्मक, वह कभी मनो-व्यापार के कल्पित कर्त्ता में (अर्थात् आत्मा में) स्थित या गतिशील नहीं हो सकती।…मानसिक सामर्थ्य कभी मस्तिष्क में प्रविष्ट नहीं हो सकता और मस्तिष्क-तन्तुओं का सामर्थ्य कभी मन में प्रविष्ट नहीं हो सकता।"

आक्षेपकर्त्ता का तात्पर्य यह है कि जब मस्तिष्क भौतिक पदार्थ है और मन-आत्मा को अभौतिक मानते हैं तो यह कैसे सम्भव है कि भौतिक सामर्थ्य अभौतिक चीज़ों में दाखिल हो सके या अभौतिक सामर्थ्य भौतिक चीज़ों में? यदि ऐसा सम्भव नहीं है तो प्रतिक्रिया के सिद्धान्त का मूल्य ही क्या रहा? यह तो एक निरर्थक-सी चीज़ हो गई।

परन्तु यह आक्षेप प्रतिक्रिया से संकुचित अर्थ के कारण है। वस्तुतः मूल सिद्धान्तों का ऐसे स्पष्ट शब्दों में वर्णन होना कठिन है कि उनमें किसी प्रकार का सन्देह हो ही न सके। लैड ने मन और शरीर का सम्बन्ध बताते हुए सच कहा है कि—

"Such a connection is no physical tie of bond. By the word 'connection', we only signify *the ultimate fact that the two beings, which are the subjects of the two classes of changes are in the order of nature causally related.*"

(Ladd, p. 470)

अर्थात्—"यह सम्बन्ध भौतिक नहीं है। शब्द 'सम्बन्ध' केवल उस मूल तत्त्व को सूचित करता है जिससे दो सत्ताएँ, जिनमें दो प्रकार के परिवर्तन हो सकते हैं, परस्पर कार्य-कारण-सम्बन्ध में जुड़ी हुई हैं।"

"If it should be complained that in this way, the entire investigation of physiological psychology ends in a mystery, the truth of the complaint must be granted. The fact that the body and mind are thus, in a great variety of particular ways, causally related, in an ultimate fact—

this, so far science with its legitimate inferences, can go. But all so-called causal relation is equally mysterious; it all partakes of the nature of ultimate and inexplicable fact. That one atom of oxygen should influence or cause, another to act in a certain way is also an ultimate mystery. The atom of oxygen should cause other atoms of hydrogen, carbon, nitrogen, etc. to act in a great variety of different ways, involves numerous equally mysterious and ultimate connections." (Ladd, p. 470)

"यदि यह शिकायत की जाय कि इस प्रकार तो शरीर-रचना और मनोविज्ञान-सम्बन्धी सभी अनुसन्धानों का रहस्य में ही अन्त हो जाता है तो इसको मान लेना चाहिए। यह तो एक मौलिक घटना है कि शरीर और मन कई प्रकार से कारण-कार्य-सम्बन्ध में जुड़े हुए हैं। विज्ञान का यह एक उचित अनुसंधान है। परन्तु सभी कारण-कार्य-सम्बन्ध रहस्यमय हैं। यह एक मौलिक और अनिर्वचनीय घटना है। जब ओषजन का एक परमाणु दूसरे परमाणु पर प्रभाव डालता है या उसको विशेष रीति से व्यवहार करने पर बाधित करता है, तो यह भी तो एक मौलिक रहस्य है। ओषजन का एक परमाणु उद्जन, कार्बन, नाइट्रोजन आदि के परमाणुओं पर बहुत-से प्रकारों में प्रभाव डालता है। यह भी वस्तुतः मौलिक सम्बन्ध या रहस्य है।"

लैड के कहने का तात्पर्य यह है कि भौतिक विज्ञानवाले एक भौतिक पदार्थ के दूसरे भौतिक पदार्थ के साथ सम्बन्ध को तो वैज्ञानिक कहते हैं और एक अभौतिक पदार्थ के किसी भौतिक पदार्थ के साथ सम्बन्ध को रहस्यमय अर्थात् अवैज्ञानिक। परन्तु यह बात ठीक नहीं है। रहस्य वह है जिसका निर्वचन न हो सके। भौतिक घटनाओं का निर्वचन नहीं हो सकता चाहे वे भौतिक हों चाहे अभौतिक। यदि मन और शरीर का सम्बन्ध रहस्यमय है तो ओषजन के परमाणु का दूसरे परमाणु के साथ सम्बन्ध भी तो कम रहस्यमय नहीं है, क्योंकि इसका निर्वचन भी तो नहीं कर सकते।

सामर्थ्य की अविनाशता के सम्बन्ध में स्टौट महाशय लिखते हैं—

"Doer it, therefore, follow that there can be no interaction, between body and mind ? This is by no means an inevitable consequence. For modes of interaction are conceivable which do not involve any exception to the principle of conservation. It may be that material energy is being continually transformed into psychical energy and transformed into material energy. Again, it may be ɪhat the agency of mind is merely directive, so that it guides and determines redistribution of energy without increasing its amount. The possibility of this has been maintained and defended be the greatest anthorities on physics such as Lord Kelvin, and there seems to be no doubt that it is a tenafle hypothesis." (Stout, p. 82)

"तो क्या इससे यह पाया जाता है कि शरीर और मन में प्रतिक्रिया हो ही नहीं सकती ? इसका यही नतीजा है, क्योंकि प्रतिक्रिया के ऐसे प्रकार सोचे जा सकते हैं जिनसे सामर्थ्य की अविनाशता का सिद्धान्त खण्डित नहीं होता। सम्भव है कि भौतिक सामर्थ्य मानसिक सामर्थ्य में तब्दील होता हो और मानसिक सामर्थ्य फिर भौतिक में। यह भी हो सकता है कि मन केवल गति ही प्रदान करता हो और सामर्थ्य को बिना घटाये-बढ़ाये केवल उसके विभाजन को ही नियमित करता हो। भौतिक विज्ञान के सबसे प्रसिद्ध मंडित केल्विन आदि ने सम्भावना का संपोषण किया है, और इसमें सन्देह नहीं कि यह सिद्धान्त मानने के योग्य है।"

माना कि गत्यात्मक या स्थित्यात्मक सामर्थ्य की जगत् में एक नियत मात्रा है और उसमें कोई न्यूनता या आधिक्य नहीं हो सकता। तो भी प्रश्न यह नहीं रह जाता है कि इस सामर्थ्य का विभाजन करनेवाली कोई सत्ता है या नहीं। यह सामर्थ्य स्वयं ही तो गतिशील न होगा। हमको गति कहीं और स्थान

से आनी चाहिये। क्या इसको आत्मा न कह सकेंगे? लॉर्ड केल्विन के सिद्धान्तानुसार तो यह बात असम्भव नहीं है कि ऐसा ही हो।

जो लोग यह कहते हैं कि भौतिक विज्ञान के भीतर हम किसी अभौतिक वस्तु को घुसने न देंगे, उनकी स्थिति कुछ अधिक वाञ्छनीय नहीं है। यह ठीक है कि प्रत्येक विज्ञान या विज्ञान के प्रत्येक विभाग को अपने क्षेत्र के भीतर ही रहना चाहिये, परन्तु इस सिद्धान्त की भी सीमा है। भौतिक विज्ञान जिन वस्तुओं को अपना विषय बनाता है वे वस्तुएँ स्वतन्त्र नहीं हैं, किन्तु संसार की अन्य वस्तुओं से सम्बद्ध अवश्य हैं। एक ही वस्तु कई शास्त्रों का विषय हो सकती है। जब मौलिक तथा अन्त के सिद्धान्तों का प्रश्न आ जाता है तो शास्त्रों में सन्धि करनी पड़ती है। उदाहरण के लिए पहले लोग रसायनशास्त्र को पर्याप्त समझते थे, परन्तु आगे चलकर जीवनशास्त्र की उलझनों को सुलझाने के लिए जीवन-रसायन (Bio-chemistry) की आवश्यकता पड़ी। इसी प्रकार मनोवैज्ञानिक उलझनों को सुलझाने के लिए केवल भौतिक विज्ञान से काम न चलेगा। एक बिन्दु आयेगा जिसके आगे अभौतिक वस्तु की सहायता लेनी होगी। जिन्होंने इस बात का संकल्प कर लिया है कि हम किसी अभौतिक सत्ता को अपने शास्त्र के क्षेत्र के भीतर घुसने न देंगे, उन्होंने बिना सिद्ध किये ही यह मान लिया है कि संसार में कोई अभौतिक सत्ता है नहीं। साध्यसम हेत्वाभास इसी को कहते हैं, और इसी के कारण बहुत-सी दार्शनिक उलझनें सुलझने में नहीं आतीं। एक समय था कि बहुत-से दार्शनिक भौतिक विज्ञान को अपने क्षेत्र के भीतर घुसने नहीं देते थे। यह बड़ा दोष था। इसके विरुद्ध आन्दोलन मचा और भौतिक विज्ञान ने उन्नति की। परन्तु अब भौतिक विज्ञानवाले बदला लेने पर आरूढ़ हो गये। सत्यता एकान्तिक नहीं है, और एकान्तिक सिद्धान्त सदैव कुछ-न-कुछ दोषपूर्ण रहते हैं।

उदाहरण के लिए मैं एक बात पूछता हूँ। मान लीजिये कि

पशुओं तथा मनुष्यों में जितनी गतियाँ पाई जाती हैं उनकी भौतिक व्याख्या सामर्थ्य की अविनाशता से करने के लिए एक भौतिक विज्ञानवेत्ता तैयार है। वह कहता है कि मैं इस व्याख्या को कर सकता हूँ। प्रश्न यह है कि व्याख्या करना भी तो एक व्यापार है। क्या इस 'व्याख्या के व्यापार' की व्याख्या भी इसी सामर्थ्य की अविनाशता के नियम से हो सकेगी ? वैज्ञानिक पंडितों के दल भौतिक घटनाओं की मीमांसा करने में तल्लीन हो रहे हैं। उन्होंने अपने को सर्वथा भुला दिया है। संसार की घटनाओं में एक घटना यह भी तो है कि कितने विद्वान् भिन्न-भिन्न शाखों के नियमों की खोज कर रहे हों। इस घटना की मीमांसा बिना अभौतिक पदार्थ माने हुए कैसे हो सकेगी ? यह सच है कि उत्तम भोजन से उत्पन्न सामर्थ्य किसी डी० एस-सी० को उत्तम रीति से सोचने के लिए योग्य बना देगा, परन्तु यदि कोई अभौतिक सत्ता नहीं है और केवल भौतिक मस्तिष्क ही है तो कोई सामर्थ्य भी उसे डी० एस-सी० नहीं बना सकता।

हैनरी ड्रमण्ड महोदय ने इस विषय में बहुत अच्छा लिखा है कि—

"The whole mistake of naturalism has been to interpret nature from the stand-point of the atom—to study the machinery, which drives this great moving world, simply as machinery forgetting that the ship has any passengers, or the passengers any captain, or the captain any course. It is as great a mistake on the other hand, for the theologian to separate off the ship from the passengers as for the naturalist to separate off the passengers from the ship."

(**The Ascent of Man** by Henry Drummond, p. 12)

"भौतिकवादियों ने बड़ी भूल यह की है कि वह सृष्टि की व्याख्या परमाणु को ही दृष्टि में रखकर करते हैं अर्थात् जो कल (यांत्रिकी) इस समस्त ब्रह्माण्ड को चला रही है उसको केवल

'कल' मानकर ही उनकी व्याख्या करते हैं। वे भूल जाते हैं कि जहाज़ पर जहाज़ के अतिरिक्त कुछ मुसाफिर भी हैं, या मुसाफिरों के साथ कप्तान भी है, या कप्तान का कोई उद्देश्य भी है। धार्मिक लोगों की भी यह भूल है कि वे मुसाफिरों से जहाज़ को अलग कर देते हैं जैसे भौतिकवादियों ने जहाज़ से मुसाफिरों को अलग करने की कोशिश की है।"

□

अध्याय १५

अभौतिक आत्मा

समानान्तरवाद और प्रतिक्रियावाद की तुलनात्मक मीमांसा करने से यह पता चलता है कि मन और शरीर दो अलग चीज़ें हैं और भौतिक प्रगतियों से ही मानसिक व्यापार की व्याख्या नहीं हो सकती। यहाँ हम शब्द 'मन' के विषय में दो बातें स्पष्ट कर दें। संस्कृत-साहित्य में 'मन' एक भौतिक पदार्थ माना गया है और हम पिछले अध्यायों में मन का शरीर से इतर अभौतिक पदार्थ के समान वर्णन करते आये हैं। बात यह है कि मन को हम दो अर्थों में ले सकते हैं। जब हम 'शारीरिक', 'वाचिक' और 'मानसिक' व्यापारों का वर्णन करते हैं तो 'शरीर' शब्द को केवल हाथ-पैर आदि अंगों के संकुचित अर्थ में ले सकते हैं। वास्तविक दृष्टि से तो वाणी और मस्तिष्क भी शरीर के अंग हैं, फिर वाणी के व्यापार को शारीरिक क्यों न कहा जाय और वाचिक व्यापार की अलग गणना क्यों की जाय? परन्तु मन का एक अर्थ और है अर्थात् सोचनेवाली सत्ता। अंग्रेज़ी में माइँड (Mind) और ब्रेन (Brain) दो शब्द प्रयोग में आते हैं। ब्रेन अर्थात् मस्तिष्क को शरीर का पिण्डा मानते हैं और माइँड अर्थात् मन को वह सोचनेवाली शक्ति जो मस्तिष्क द्वारा सोचती है। संस्कृत-साहित्य में मन को स्थूल शरीर से भिन्न एक सूक्ष्म उपकरण माना है जो 'आत्मा' से भिन्न पदार्थ है। हमने पिछले अध्याय में 'मन' को अंग्रेज़ी माइँड के अर्थ में लिया है, जिसमें आत्मा और दार्शनिक भेद सम्मिलित नहीं है। हम 'मन' और 'आत्मा' के भेद की आगे मीमांसा करेंगे, अभी

वह समय नहीं आया कि उस सूक्ष्म अवस्था तक पहुँच सकें। अभी तो स्थूल शरीर और मन का ही झगड़ा चल रहा है। भौतिक विज्ञान-पक्षवालों का दावा है कि स्थूल शरीर में ही सोचने की शक्ति है, इसलिये इसी बात की मीमांसा करना पहले आवश्यक हुआ।

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि यदि मन या माइंड को मान भी लिया जाय तो क्या यह भी सिद्ध है कि यह अभौतिक है? शरीर भौतिक है और उसमें रुधिर, अस्थि, मज्जा आदि सब भौतिक हैं। स्नायु-संस्थान और समस्त तन्तु-मण्डल भौतिक है। स्थूल भूतों से उत्पन्न सूक्ष्म सामर्थ्य भी भौतिक है। इस प्रकार ये सब चीज़ें भौतिक पदार्थों से सम्बन्ध रखती हैं चाहे वे इन्द्रियगोचर हों चाहे न हों, चाहे वे सूक्ष्म यंत्रों से मालूम हो सकती हों या उनमें भी दृष्टि न पड़ती हो और केवल बुद्धि और तर्क से ही उनका अस्तित्व समझ में आता हो।

भौतिकवाद और आत्मवाद में भेद यह है कि जो व्यापार या गुण आत्मा के बताये जाते हैं, भौतिकवादी उन सबको भौतिक पदार्थों से उत्पन्न या उन्हीं में समाविष्ट मानते हैं और उनसे इतर किसी अन्य को नहीं मानते। अध्यात्मवादी कहते हैं कि आत्मा एक अभौतिक पदार्थ है जो यद्यपि भौतिक पदार्थों को चलाता है तथापि वह न उनसे बना है और न अपने अस्तित्व के लिए उनके आश्रित है। उनका यह भी कहना है कि भौतिक पदार्थों में इतनी योग्यता नहीं है कि वे उन व्यापारों को कर सकें जो आत्मा से सम्बद्ध किये जाते हैं। पिछले अध्यायों में कई स्थानों पर इन बातों का निराकरण किया जा चुका है। आइये, यहाँ संक्षेप से क्रमशः उन्हीं बातों को दुहरा लें—

पहली बात

तन्तु-गति और मानसिक क्रियाओं का भेद

मस्तिष्क के केन्द्रों से जो आणविक (Molecular) विक्षोभ

होता है उसकी प्रकृति मानसिक तरंगों की प्रकृति के सर्वथा भिन्न है।

"Not even the most pronounced materialists would venture to affirm their identity. Minute movements, or chemical and vital changes, in the molecules of the cerebral mass differ totally, as phenomena, from state of sensation, perception and ideation with their accompaning tones of pleasurable or painful feeling."

(Ladd's **Physiological Psychology**, p. 479)

"पक्के-से-पक्का भौतिकवादी भी इनकी एकता स्वीकार करने का साहस न करेगा। मस्तिष्क के भीतर अणुओं में जो छोटी-छोटी गतियाँ और रासायनिक तथा जीवन-सम्बन्धी परिवर्तन होते रहते हैं वे इन्द्रिय-संज्ञान, संकल्प तथा उनके सहकारी सुख-दुःख की अनुभूति से सर्वथा भिन्न हैं।"

"Even less, perhaps, would any think of identifying the the most complicated and ample nerve-commotions with those trains of thought which result in solving a mathematical problem of with those feeling of adoration and affection which some men experience on contemplating the idea of God." (p. 480)

"इससे भी कम समानता उन जटिल और विस्तृत तन्तुक्षोभों और उन विचार-शृंखलाओं में है जो किसी गणित की समस्या को हल करने में प्रयोग होता है या उन भक्ति के भावों में है जो ईश्वर के गुणों का ध्यान करने में उठते हैं।"

तात्पर्य यह है कि जब हम किसी गणित के प्रश्न पर विचार करते हैं या ईश्वर के गुणों की भावना करते हैं तो उस समय जो विचार हमारे मन में उठते हैं, उनकी तुलना हमारे मस्तिष्क के कोष्ठों की जटिल प्रगतियों से भी नहीं की जा सकती, क्योंकि विचारों की प्रकृति आणविक क्षोभों की प्रकृति से सर्वथा भिन्न है।

दूसरी बात

मस्तिष्क से विचार उत्पन्न नहीं हो सकते

भौतिकवादियों का कहना है कि मस्तिष्क के कोष्ठ ही विचार-तरंगों को उत्पन्न कर देते हैं। परन्तु पहले इस बात का निश्चय होना चाहिये कि 'उत्पन्न' होने से तात्पर्य क्या है ? हम कहा करते हैं कि गाय के थनों में से दूध उत्पन्न होता है। क्या इसी प्रकार मस्तिष्क के कोष्ठ विचार करते हैं ? शायद ही कोई भौतिकवादी ऐसा युक्तिशून्य होगा जो इस बात को स्वीकार कर ले।

कुछ लोग कहते हैं कि—

"The brain throws off the mental phenomena as a kind of surplusage—so to speak—of its more legitimate form of activity by way of molecular motions."

(Ladd, p. 481)

"मस्तिष्क का मुख्य काम यह है कि आणविक प्रगतियाँ उत्पन्न किया करे। इन प्रगतियों में जो फ़ाज़िल रह जाता है वह मानसिक व्यापार के रूप में प्रतीत होता है।" परन्तु यह तो व्यर्थ की विडम्बना है जिसका कुछ भी अर्थ नहीं है।

एक तीसरी बात और मानी जा सकती है, अर्थात् मस्तिष्क के अणुओं की प्रकृति, व्यवस्था तथा परिस्थिति इस प्रकार की है कि उनसे नये सम्बन्ध उत्पन्न हो जाते हैं। इन्हीं सम्बन्धों को मानसिक विचार कहते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार पहली अवस्था से पिछली अवस्था उत्पन्न हुआ करती है अर्थात् अणुओं की पूर्व-कालिक परिस्थिति उनकी अनुकालिक परिस्थिति का कारणरूप है।

"If however, such a mechanical theory of the behaviour of the brain, regarded as a system of material beings, could be perfectly adjusted to the principle of the conservation correlation of energy, we do not see how it

would enable us to regard the behaviour of the mind—the phenomena of mental states—as 'products' of the same antecedent changes. Out of nerve commotions, as their product, other nerve-commotions come. But how are the phenomena of knowing, feeling and choosing rendered any less incomparable with the molecular changes of nervous matter by speaking of them; too, a products of the substance of train ?" (Ladd, p. 482)

लैड का कहना है कि "यदि मस्तिष्क का यह भौतिक यांत्रिक सिद्धान्त सामर्थ्य की अविनाशता के सिद्धान्त से मिलाया जाय तो मानसिक विचारों को एक ही पूर्वकालिक परिवर्तन से उत्पन्न हुआ नहीं मान सकते। तन्तु-विक्षोभ से तो केवल तन्तु-विक्षोभ ही उत्पन्न हो सकते हैं। ज्ञान, अनुभूति तथा निर्वाचन की घटनाएँ आणविक प्रगतियों का कार्य मानी नहीं जा सकतीं।"

इसपर वैटहम का कथन भी पढ़ने योग्य है—

"A ray of star-light may be treated by physics from its distant sources to its effect on an optic nerve, but, when consciousness apprehends its brightness and colour and feels beauty the sensation of light and the knowledge of beauty certainly exist, and yet they are neither mechanical nor physical."

(**History of Science its Relations with Philosophy and Religion,** by Dampier Whethem, p. XX)

"भौतिक शास्त्र इस बात की व्याख्या तो कर सकता है कि किसी तारे से चलकर प्रकाश की किरण किस प्रकार आँख के तन्तु तक आ सकी, परन्तु जब उसकी चमक और रंग का भान होता है और उसके सौन्दर्य की अनुभूति होती है तो प्रकाश और सौन्दर्य का संज्ञान वस्तुतः एक अलग सत्ता रखते हैं। ये न तो यांत्रिक क्रियायें हैं न भौतिक व्यापार।"

तीसरी बात

मानसिक विचार सदा तन्तु-सम्बन्धी परिवर्त्तनों से पूर्वकालिक हैं

भौतिकवादियों की युक्ति यह है कि जबतक मस्तिष्क में विशेष प्रगति उत्पन्न न हो मानसिक विचार भी नहीं उठते, इसलिए मानसिक विचारों को मस्तिष्क की प्रगतियों के आश्रित समझना चाहिये। परन्तु इसमें दो बातें विचारणीय हैं—प्रथम, यदि मान भी लिया जाय कि मानसिक विचार मस्तिष्क की प्रगतियों के आश्रित हैं, तो भी मन की स्वतन्त्र सत्ता से इन्कार नहीं किया जा सकता।

"Every material mass or atom, is dependent upon the behaviour of some other similar mass or atom, for the character of its own changes. But physics does not, on this account deny its reality." (Ladd, p. 483)

"प्रत्येक भौतिक मात्रा या परमाणु अपनी निजी प्रगतियों के स्वरूप के लिए उसी प्रकार की मात्रा या परमाणु की प्रकृति के आश्रित हैं, परन्तु इस कारण से भौतिक शास्त्र उसके अस्तित्व का निषेध नहीं करता।"

फिर समझ में नहीं आता कि मानसिक विचारों के मस्तिष्क की प्रगतियों के आश्रित रहने-मात्र से मानसिक विचारों के स्वतन्त्र अस्तित्व का क्यों निषेध किया जाय ?

परन्तु दूसरी बात और अधिक महत्त्व की है—

"The investigation of physiological psychology furnish abundant proof, on the other hand, that mental phenomena are the regular antecedents of changes in the cerebral centres, and though these changes, of changes in the other bodily organs. Indeed, the more, comprehensive, minute and profound its investigations are, the more convincing does the evidence to this effect become." (Ladd, p. 482)

अर्थात्—"शरीर-रचनात्मक मनोविज्ञान के अनुसन्धान इस बात के पुष्टिकर प्रमाण हैं कि मानसिक विचार मस्तिष्क के केन्द्रों की प्रगतियों के और उनके द्वारा अन्य शारीरिक प्रगतियों के पूर्वकालिक हैं (अनुकालिक नहीं)। जितना अधिक विस्तृत और गहरा अनुसन्धान किया जाय, उतनी ही इस बात की अधिक पुष्टि होती है।"

चौथी बात

मन अस्तित्व का अधिक अधिकारी है

भौतिकवादियों का दावा है कि—

"Nothing can happen by way of conscious sensation, perception, aesthetic, or religious feeling and belief, abstract conception, or so-called free choice which does not find its only real explanation in the equivalent changing states of the nervous system." (Ladd, p. 483)

अर्थात्—इन्द्रिय-संस्कार, संज्ञान, सौन्दर्य-भाव, धार्मिक अनुभूति और विचार, कल्पना, स्वतन्त्र निर्वाचन-शक्ति आदि जितने मानसिक व्यापार कहे जाते हैं उन सबकी वास्तविक व्याख्या स्नायु-संस्थान की समानान्तर प्रगतियों से हो जाती है।"

इसपर लैड महोदय दो बातें कहते हैं—

"Our first impression on considering the foregoing theory is one of surprise as its audacity."

अर्थात्—"प्रथम तो भौतिकवादियों का ऐसा कहना आश्चर्य-जनक धृष्टता है, क्योंकि बहुत-सी मनोवैज्ञानिक बातों की इनके द्वारा व्याख्या हो ही नहीं सकती।"

दूसरे—

"The independent development of the mind—its life and growth as a non-material entity, under forms and laws of unfolding that are unique, constitutional, wholly

peculiar to itself—is also a legitimate conclusion of the same science." (Ladd, p. 484)

अर्थात्—"शरीर-रचनात्मक मनोविज्ञान के अनुसंधान का यह निश्चयात्मक सिद्धान्त है कि मन का विकास स्वतन्त्र रूप से होता है, और उसके नियम भी वही नहीं जो भौतिक पदार्थों के विकास के हैं, किन्तु उन नियमों में एक विशेषता पाई जाती है।"

इसलिए यह कहना कि अभौतिक मन कोई अलग सत्ता नहीं है, ठीक नहीं है।

पाँचवीं बात

मानसिक जीवन में कई ऐसी बातें हैं जिनका शरीर की किसी भी अवस्था से सम्बन्ध नहीं

प्रायः यह समझा जाता है कि ज्ञान-तन्तु और प्रेरणा-तन्तुओं के संचालन से ही मानसिक व्यापार होता है, परन्तु यह बात नहीं है। कई ऐसे मानसिक व्यापार हैं जो इन तन्तुओं की प्रगतियों से कोई सम्बन्ध नहीं रखते। यहाँ कुछ उदाहरण दिये जाते हैं—

(१) जब हम लोहे का एक टुकड़ा हाथ पर रक्खें तो एक नियत मात्रा दबाव की प्रतीत होती है और जब उसके ऊपर एक दूसरा टुकड़ा रख दें तो दबाव का आधिक्य अनुभव होता है। यह टुकड़ा अनुभव नहीं है। टुकड़ा और चीज़ है और अनुभव और चीज़, परन्तु दबाव के अनुभव के साथ यह अनुभव भी होता है कि कोई चीज़ हाथ पर आ गई है। यह 'चीज़ के अस्तित्व का अनुभव' 'दबाव के अस्तित्व के अनुभव' से अलग व्यापार है। इस प्रकार दो मानसिक व्यापार हुए—एक तो 'दबाव के अस्तित्व का अनुभव' दूसरा 'लोहे के टुकड़े के अस्तित्व का अनुभव'। पहले अनुभव के समानान्तर तो शारीरिक क्रिया है अर्थात् जब ज्ञानतन्तुओं पर दबाव पड़ता है तो दबाव का अनुभव होता है, परन्तु लोहे के टुकड़े के अस्तित्व का अनुभव किन्हीं किसी अन्य तन्तुओं के

व्यापार से नहीं होता। इसको मन का विशेष व्यापार ही कह सकते हैं।

"Certain fundamental assumptions, or belief enter into all perceptions by the senses. No perception is a mere combination of sense complexes, representable in terms of correlated changes of stimuli, and of nerve-commotions. Perception is a knowledge of 'Things'. 'No', 'Thing' is known as a more grouping sensation-complexes."

(Ladd, p. 485)

अर्थात्—"हमें जो इन्द्रिय-जन्य ज्ञान होता है उसमें केवल इन्द्रिय-संस्कार ही नहीं होते। वस्तु का ज्ञान संस्कारों का योग-मात्र नहीं है और न उसकी केवल तन्तुओं की गतियों से ही व्याख्या हो सकती है। 'ज्ञान' पदार्थों का ज्ञान है। केवल संस्कारों के जोड़ने से ही पदार्थ नहीं बन जाता।" यह 'पदार्थ के ज्ञान' की योग्यता मन की अपनी योग्यता है। इसी से मन का विकास होता है। जिन द्रव्यों का अस्तित्व हम मानते हैं उनके विषय में ऐसा नहीं मानते कि गुण ही द्रव्य है, किन्तु द्रव्यों में गुण है—यह भावना मन के विशेष कार्य से होती है। शरीर में कोई ऐसी क्रिया नहीं है जिससे यह भावना उत्पन्न हो सके।

(२) मन के उच्च विकास का भी यही हाल है। जब हमें किसी पुरानी घटना की याद रहती है तो इस स्मृति के साथ-साथ स्नायु-संस्थान का कुछ व्यापार भी होता है। परन्तु यह पहचान करना कि यह वही वस्तु है जिसे हमने गत वर्ष देखा था, स्नायु-संस्थान की किसी क्रिया के कारण नहीं हो सकता। इन वर्तमान और भूतकालिक अनुभवों को मिलाने के लिए तो अवश्य एक आत्मा चाहिये, क्योंकि स्मृति केवल दो कालों में होनेवाले अलग-अलग अनुभवों का नाम नहीं है। इसके साथ एक और व्यापार शामिल है अर्थात् हमको यह भी अनुभव है कि ये दोनों अनुभव 'हमीं' को हुए।

(३) अनुमान प्रमाण के समानान्तर कोई मस्तिष्क की क्रिया

नहीं हो सकती और न भौतिकवादियों के पास इसका कोई प्रमाण है। कल्पना कीजिये कि एक पागल आदमी है अर्थात् उसके मन में विकार है। एक भौतिकवादी यह कहेगा कि मानसिक विकार मस्तिष्क के विकार के कारण हैं। हम पूछते हैं कि क्या तुमने इस पागल के मस्तिष्क को देखा है? उसको कहना पड़ेगा कि 'नहीं'। फिर उसने कैसे जाना कि उसके मस्तिष्क के भीतर भी विकार है? कहा जा सकता है कि लाशों को चीरकर देखा है, उसी से 'अनुमान' किया है। परन्तु 'अनुमान' करना तो शारीरिक क्रिया नहीं है। यह तो शुद्ध अभौतिक मानसिक क्रिया है। समस्त भौतिक विज्ञान केवल भौतिक नियमों का ही नाम नहीं है, किन्तु उन भौतिक नियमों के ज्ञान का नाम है जो शास्त्र के रूप में आते हैं। यह 'शास्त्र' या 'विज्ञान' बिना आत्मा के बन नहीं सकता।

(४) कल्पना कीजिये कि एक भौतिकवादी सामने आता है और कहता है कि भौतिक शरीर से इतर कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिसको 'सोचनेवाला अभौतिक आत्मा' कह सके। हम उससे कहेंगे कि यदि तुम्हारा कहना यथार्थ नहीं तो तुम्हारा पक्ष गिर ही गया। परन्तु यदि तुम्हारा कहना यथार्थ है तो भी तुम्हारे पक्ष की पुष्टि नहीं होती, क्योंकि केवल भौतिक मस्तिष्क ही तुम जैसे वाद-विवाद करनेवाले व्यक्ति को उत्पन्न नहीं कर सकता। तुम्हारी यह धारणा कि तुम्हारा पक्ष ठीक है, कोई शारीरिक क्रिया नहीं, यह शुद्ध आत्मिक क्रिया है। लैड ने एक जगह बहुत अच्छा लिखा है कि—

"Surely the souls, we know we are, should receive as much consideration as the elements of that pulpy mass we call our brains." (p. 483)

अर्थात्—"जितना आदर उस मांस के लोथड़े का किया जाता है जिसको मस्तिष्क कहते हैं उतना हमें आत्माओं का भी तो करना चाहिये क्योंकि हमें अपने आत्मा होने की अनुभूति है।"

यदि मांस का एक टुकड़ा पड़ा हो और कोई उसके अस्तित्व

से इन्कार करे तो वह टुकड़ा उड़कर वादविवाद न करेगा, परन्तु यदि कोई आदमी कहे कि 'यह नहीं है' तो वह आदमी अवश्य ही वादविवाद करने लगेगा। यह क्यों? इसलिए कि उस मांस के लोथड़े को अपने अस्तित्व का ज्ञान नहीं और मनुष्य को है। यह ज्ञान शारीरिक व्यापार कैसे हो सकता है? जो भौतिक विज्ञान-वेत्ता समस्त भूतों का अस्तित्व मानकर अपने आत्मा के अस्तित्व को नहीं मानते, वे पंचदशी में बताये हुए उन दस आदमियों के तुल्य हैं जो अन्य नौ को गिनकर अपने को नहीं गिनते थे और रोते थे कि हाय, हममें से एक आदमी नदी में डूब गया! भेद केवल इतना है कि उनको दसवें की तलाश थी और इनको अपनी तलाश भी नहीं। उन्होंने स्वयं ही समझ रक्खा है कि सब-कुछ है, हम नहीं हैं।

छठी बात

प्रबल मानसिक विचार शारीरिक क्रियाओं को रोक सकते हैं

स्टौट महोदय ने इसके लिए क्रैनमर का उदाहरण दिया है। क्रैनमर एक प्रोटैस्टेंट पादरी था जिसको महारानी मेरी के राज में इंगलैंड में जीवित जला दिया गया था। पहले उससे कहा गया कि यदि तुम अपना धर्म बदल लो तो तुमको क्षमा कर दिया जायगा। उसने अपने जीवन के लोभ में प्रतिज्ञापत्र पर हस्ताक्षर कर दिये। परन्तु बाद में उसे बड़ा अनुताप हुआ और उसने उस प्रतिज्ञा को वापस ले लिया। इसके फलस्वरूप उसको जलती हुई आग पर बांध दिया गया। जब वह जलाने के लिए लाया गया तो उसने अपना दाहिना हाथ स्वयं आग में डाल दिया और कहने लगा, "मेरे इस हाथ ने मुझे पतित होने में सहायता दी, इसलिये इसी को सबसे पहले जलना चाहिये।" हाथ जलता रहा परन्तु क्रैनमर की ओर से कोई यत्न उसके हटाने का न किया गया, जबकि साधारणतया आग पर हाथ पड़ते ही स्वाभाविक प्रेरणा

द्वारा ही हाथ को हट जाना चाहिये था जैसा कि प्रत्येक नर-नारी का अनुभव है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि आत्मिक प्राबल्य ने शरीर के साधारण व्यापार को रोक लिया।

इस प्रकार के वीर पुरुषों के उदाहरणों से इतिहास भरे पड़े हैं। प्रत्येक युग और देश में ऐसे उदाहरण मिलते हैं जिनसे भौतिकवाद की किसी भी प्रकार की पुष्टि नहीं होती। क्रैनमर का पहले डरकर प्रतिज्ञापत्र पर हस्ताक्षर करना, फिर अनुताप करना, फिर प्रतिज्ञा को लौटाना, अपने हाथ को प्रथम आग में जलाना, ये सब बातें एक ही ओर संकेत करती हैं अर्थात् आत्मा अभौतिक है और शरीर उसका उपकरण-मात्र।

□

अध्याय १६

भौतिकवादियों की असफलता

प्राचीनकाल के लोकायतिक मतवादियों ने केवल मद्य आदि के नशे तथा अग्नि-जल आदि के स्थूल कार्यों को देखकर ही कल्पना कर ली थी कि भूतों के परस्पर मेल से ही चेतनता उत्पन्न हो जाती है। परन्तु यूरोप के विज्ञानवेत्ताओं ने शरीर के प्रत्येक आन्तरिक अंग का सूक्ष्म अन्वीक्षण करके ही मन की प्रत्येक गति को शारीरिक गतियों के आधार पर सिद्ध करने की कोशिश की।

कुछ लोगों का विचार था कि शरीर में बहुत-सी ऐसी जटिल वस्तुएँ पाई जाती हैं जो जीवन-शक्ति के बिना नहीं बन सकतीं और जिनकी केवल रसायनशास्त्र द्वारा व्याख्या नहीं हो सकती। इसके विरुद्ध १९वीं शताब्दी के रसायनशास्त्रवाले यही यत्न करते रहे कि इन चीज़ों को जीवित शरीर के बाहर भी बनाकर दिखा दें। सबसे पहले तो परीक्षण करके यह पता लगाया गया कि जीवित शरीरों के ये पदार्थ कार्बन से बनते हैं। कार्बन के परमाणुओं में कुछ ऐसी विचित्र शक्ति है कि वे आपस में मिलकर या अन्य पदार्थों के परमाणुओं से मिलकर एक नई वस्तु बना देते हैं। जब यह पता चल गया तो भौतिकवादियों को मानो विजय प्राप्त हो गई। अब आत्मा या जीव मानने की क्या आवश्यकता? कार्बन से ही सब काम चल जाएगा। परन्तु क्या कार्बन उन चीज़ों को जीवित शरीर के बाहर भी बना सकता है जिनको वह भीतर ही बनाता है? यदि बाहर ये चीजें नहीं बन सकतीं तो अवश्य ही मानना चाहिये कि चाहे कार्बन में इस प्रकार की शक्ति हो, तथापि

इसको उन चीज़ों के बनाने में जीवनशक्ति का आश्रय लेना चाहिये।

रसायनज्ञों ने एक पग आगे बढ़ाया। १८२८ ई० में फ्रीडरिक वोहलर (Friedrich Wohler) ने मूत्रिया या यूरिया नामी एक ऐसी वस्तु बना डाली जो केवल शरीर के पदार्थों में ही पाई जाती है। इनसे लोगों की आशा बँधी। अब यह प्रश्न हुआ कि कार्बनिक वस्तुओं के तत्त्वों का ठीक-ठीक परिमाण मालूम हो जाए तो उसी परिमाण से मिलाकर वस्तुएँ बन सकेंगी। १८३० ई० में जस्टस लीबिग (Justus Leibig) ने ऐसी रीतियाँ निकालीं जिनसे कार्बनिक पदार्थों के तत्त्वों का ठीक-ठीक परिमाण ज्ञात होने लगा।

इन परीक्षणों ने एक नई खोज में सहायता दी। कुछ ऐसी वस्तुओं का पता चला जिनमें तत्त्वों का परिमाण तो सम था परन्तु उन वस्तुओं के भौतिक रासायनिक गुण सर्वथा भिन्न थे, जैसे मूत्रिया और अमोनियम श्यामेत (Ammonium cyanate) में। इसको समरूपता (Isomeris) कहते हैं। यह एक कठिनाई थी जिसकी व्याख्या आवश्यक थी, क्योंकि यदि कुछ तत्त्व एक ही परिमाण में मिलाये जायँ तो भिन्न-भिन्न गुणवाले पदार्थ क्यों बनें? बर्ज़ीलियस (Berzelius) ने परीक्षणों द्वारा यह सिद्ध किया कि इस भिन्नता का कारण आणविक क्रम (Molecular arrangement) है।

अब अन्य कार्बनिक पदार्थ भी बनाये जाने लगे। १८८७ ई० में एमिल फ़िशर (Emil Fischer) ने फलोज (Fructose) और द्राक्षोज (Glucose) बना डाला, और लोग समझने लगे कि शनैः-शनैः वैज्ञानिक परीक्षणालयों में पशु-पक्षी और मनुष्य भी बनाये जाने लगेंगे। परन्तु यह एक मीठा स्वप्न था।

मनुष्य की इन परीक्षण-सम्बन्धी प्रवृत्तियों ने मनुष्य-जाति की ज्ञानराशि को बहुत बढ़ा दिया। भिन्न-भिन्न प्रकार की ऐसी वस्तुएँ मालूम हो गईं जिनसे चिकित्सा करने में बड़ी सहायता मिली। आजकल रसायनज्ञ लोग निरन्तर कार्बन बनाने में लगे हुए

हैं और बहुत-सी वस्तुएं बना ली गई हैं, परन्तु किसी प्राणी के बनाने में सफलता नहीं हुई। शरीर-विज्ञान-वेत्ताओं में जो प्रसिद्ध हैं वे जीवन-शक्ति को अब भी माने चले जाते हैं।

बिकॅट (Bichat) ने (१७७१-१८०२) ने यह सिद्ध किया था कि हमारे शरीर में बहुत-से छोटे-छोटे जीवित शरीर हैं जो हमारे शरीर के बनाने में मदद देते हैं। उसका कथन था कि जीवन-शक्ति और भौतिकी तथा रसायन में युद्ध हुआ करता है और मृत्यु के पश्चात् भौतिकी तथा रसायन का इतना राज हो जाता है कि शरीर नष्ट हो जाता है।*

एक दूसरे फ्रांसीसी शरीर-वैज्ञानिक मैजेंडी (Majendie) ने, जो उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में हुआ, यह बतलाया कि 'Some phenomena of living bodies were due to an inexplicable vital principle' कि "जीवित शरीरों की कुछ घटनाएँ एक ऐसे जीवन-नियम के कारण हैं जिनकी व्याख्या नहीं की जा सकती।"

क्यूवियर (Cuvier) महाशय भी ऐसा ही मानते थे।

शरीर-विज्ञान के अन्वेषणों ने तो एक प्रकार से काया ही पलट दी है। एक हैं प्रेरकाणु या एंज़ाइम (Enzymes) और दूसरे हैं कीटाणु (Bacteria)। १८७८ ई० में कूहनी (Kuhne) ने प्रेरकाणुओं का पता लगाया। ये वे अणु हैं जो रासायनिक क्रियाओं में शीघ्रता उत्पन्न कर देते हैं। उदाहरण के लिए यदि किसी पदार्थ को केवल भौतिक पदार्थों द्वारा परीक्षणालयों में तैयार किया जाय तो बहुत देर लगती है और यदि प्रेरकाणु प्रविष्ट कर दिये जायँ तो कार्य बहुत शीघ्रता से होने लगता है। ये प्रेरकाणु शरीर में पाये जाते हैं।

---

* "He held that there is in life a conflict between vital forces and those of physics and chemistry, which after death resume their undivided sway and destroy the body."
(Whetham's **History of Science, p. 274**)

१८३८ ई० में लाटूर (Latour) और श्वैन (Schwann) ने यह मालूम किया कि वस्तुओं में जो जोश या सड़न उत्पन्न होती है यह कीटाणुओं के कारण है। यदि ताप के आधिक्य से इन कीटाणुओं को मार दिया जाय तो सड़न नहीं उत्पन्न हो सकती। १८५५ ई० में पास्चर (Pasteur) ने यह सिद्ध किया कि भिन्न-भिन्न कीटाणु होते हैं। १८८२ ई० में कोक (Koch) ने बतलाया कि क्षयरोग के विशेष कीटाणु होते हैं। १८८० ई० में लैवरन (Laveran) नामी एक फ्रांसीसी युद्ध-डॉक्टर ने मैलेरिया रोग का कारण एक प्रकार के कीटाणु बताये थे। पाँच वर्ष पीछे मैनसन (Manson) और रॉस (Ross) ने सिद्ध किया कि ये कीटाणु मच्छरों के शरीर में रहते हैं और इसी से मैलेरिया ज्वर फैलता है। यदि दलदलों को सुखाकर मच्छरों को नष्ट कर दिया जाय तो मैलेरिया का रोग नहीं रहता।

"The first thorough study of an ultra-microscopic virus was made by the Loffiler and Frosch in 1893. They showed that lymph from an animal suffering from foot-and-mouth disease, when passed through a filter which would stop ordinary bacteria, would still infect a number of other animals in series. They inferred that they had to deal with a reproducing microrganism and not with an inanimate poison. It is still uncertain whether these ultra-microscopic filterable viruses, which cause many diseases in animals and plants are particulate bacteria. If so, they must be so small that they approach molecular dimensions. It has been suggested that they may represent a new type of non-cellular living matter."

(Whetham's **History of Science**, p. 285)

"१८९३ ई० में लौफ्लर और फ्रॉश ने अत्यन्त सूक्ष्म कीटाणुओं का विशेष अध्ययन किया। उन्होंने बतलाया कि यदि किसी पैर और मुँहपके पशु का लिम्फ ऐसे छन्ने में छाना जाय जिसमें साधारण कीटाणु ऊपर रह जाएँ, फिर भी उस छने हुए

लिम्फ में ऐसे गुण रह जाते हैं जिनसे निरन्तर अन्य पशुओं को वही रोग उत्पन्न हो जाता है। इससे उन्होंने यह अनुमान निकाला कि यह निर्जीव विष नहीं है, किन्तु अत्यन्त सूक्ष्म कीटाणु हैं जिनकी सन्तानवृद्धि होती रहती है। अभी यह निश्चय नहीं हो सका कि ये अत्यन्त सूक्ष्म छन्ने में से भी निकल जानेवाले विषाणु, जो पशुओं और पौधों में बहुत-से रोग उत्पन्न कर देते हैं, विशेष कीटाणु ही हैं। यदि सचमुच हैं तो वे इतने सूक्ष्म होंगे कि उनका परिमाण आणविक परिमाण के लगभग होगा। यह अनुमान किया जा रहा है कि यह छिद्र-रहित विशेष प्रकार की जीवित वस्तु है।"*

ऊपर के अन्वेषण हमको किस नतीजे पर पहुँचाते हैं? वैज्ञानिक का आरम्भिक प्रयत्न यह था कि जीवन-शक्ति का निषेध किया जाय और केवल जड़ पदार्थों की सहायता से जीवन-सम्बन्धी घटनाओं की व्याख्या कर दी जाय। परन्तु ज्यों-ज्यों मनुष्य का वैज्ञानिक ज्ञान बढ़ता गया, त्यों-त्यों इस जीवित पदार्थ से छुटकारा नहीं मिला। पहले तो केवल यही कहा जाता था कि हमारे शरीर की भिन्न-भिन्न क्रियाएँ हमारे जीव के कारण होती हैं, परन्तु अब वैज्ञानिकों ने बताया कि हमारे शरीर में भी बहुत-से अन्य छोटे-छोटे शरीर हैं जिनमें जीव रहते हैं। ये जीव अपने शरीर को बनाने के साथ-साथ हमारे शरीर के बनाव-बिगाड़ में भी मदद करते हैं। मानो हमारा शरीर क्या हुआ, एक बड़ा नगर हुआ जिसमें असंख्य प्राणी रहते हैं। ये कोरे जड़ नहीं हैं। इनमें चेतनता है। यह चेतनता जड़ पदार्थों से उत्पन्न नहीं हुई, किन्तु इनमें एक विशेष अजड़ या चेतन नियम काम करता है।

आप शायद कहने लगें कि शरीर-विज्ञान शरीर में एक ही शासक जीव की सिद्धि नहीं करता, सहस्रों जीवों की सिद्धि कर देता है। परन्तु इसपर हमारा उत्तर यह है कि यदि शरीर-विज्ञान के साथ मनोविज्ञान को भी मिलाएँ तो अवश्य ही शरीर के शासक एक जीव को मानना पड़ता है, जैसा कि हम मनोविज्ञान-सम्बन्धी अध्यायों में लिख आए हैं। शरीर में अनेक ऐसे व्यापार हो रहे हैं

जिनकी व्याख्या केवल कीटाणुओं या प्रेरकाणुओं द्वारा न हो सकेगी। ये कीटाणु तो शरीर के छोटे-छोटे अवयवों को बनाया या बिगाड़ा करते हैं, परन्तु वे उस इच्छा-शक्ति या ज्ञान-शक्ति को उत्पन्न नहीं कर सकते जिसके द्वारा हम अपने ज्ञान-तन्तुओं या प्रेरणा-तन्तुओं से काम लेते हैं। सम्भव है कि इन कीटाणुओं के छोटे-छोटे शरीरों में भी अलग-अलग ज्ञान-शक्ति और प्रेरणा-शक्ति उसी प्रकार छोटी-छोटी कक्षाओं के भीतर काम करती हो जैसी हमारे शरीर में हमारे द्वारा हो रही है, परन्तु ज़ीवन-शक्ति के विशेष अस्तित्व से इन्कार नहीं किया जा सकता।

एक और बात है, यदि कोई वैज्ञानिक यह सिद्ध कर दे कि हमारे समस्त शारीरिक व्यापार की व्याख्या बिना चेतन शक्ति के की जा सकती है तो स्वप्न और जाग्रत् दोनों अवस्थाओं में जीव सात अंगोंवाला और उन्नीस मुखोंवाला बताया गया है। सुषुप्ति में इसका उल्लेख नहीं। 'सप्तांग' का क्या अर्थ है, यह मेरी समझ में नहीं आया। भिन्न-भिन्न मत जो प्रकट किये गए हैं। कोई कहता है सात अंगों से मतलब दो आँखें, दो कान, दो नाक और एक वाणी है। मैं उनसे एक बात पूछूँगा और वह यह कि तुमने इतना सिद्ध करने की जो चेष्टा की और तुमको इस कार्य में जो सफलता प्राप्त हुई, दोनों बातें बिना चेतन सत्ता के सिद्ध नहीं हो सकतीं। भौतिकवाद स्वयं एक वाद है। 'वाद' शब्द उन समस्त घटनाओं का बोध कराता है जिनमें निरीक्षण, परीक्षण, वर्गीकरण, निर्वाचन आदि सहस्रों क्रियाएँ समाविष्ट हैं। ये सब बिना चेतन के कैसे हो सकेंगी ? यदि संसार में केवल एक ही सायँटिस्ट (वैज्ञानिक) रह जाय और समस्त विद्वानों के मस्तिष्क-व्यापार को चेतनारहित जड़ शक्ति से सम्बद्ध कर दें, तो भी उसे अपने मस्तिष्क-व्यापार का कारण बताना होगा और मुझे विश्वास है कि वह इसको बिना चेतन शक्ति का अस्तित्व मानो सिद्ध न कर सकेगा।

□

अध्याय १७

स्वप्न और सुषुप्ति

प्राचीन शास्त्रों में प्राणी की तीन अवस्थाएँ मानी गई हैं—जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति। हम सभी को इन तीनों अवस्थाओं का अनुभव है। इसके लक्षण क्या हैं? यह अवस्था-भेद किस कारण से होता है? इस विषय में सम्भव है कि लोगों में मतभेद या विषम ज्ञान हो, परन्तु क्या शिक्षित और अशिक्षित सभी को प्रतिदिन इसका अनुभव होता है?

चलिये जाग्रत् से आरम्भ करें।

माण्डूक्य उपनिषत् में जाग्रत् के यह लक्षण दिये हैं—

जागरितस्थानो बहिष्प्रज्ञः सप्तांग एकोनविंशतिमुखः स्थूल-भुग् वैश्वानरः प्रथम पादः॥

पहली अवस्था जाग्रत् है। इसके सम्बन्ध में पाँच बातें कही गई हैं—

(१) **बहिष्प्रज्ञः** अर्थात् बाहरी ज्ञानवाला।
(२) **सप्तांगः** अर्थात् सात अंगोंवाला।
(३) **एकोनविंशतिमुखः** अर्थात् १९ मुखोंवाला।
(४) **स्थूलभुक्** अर्थात् स्थूल वस्तुओं को भोगनेवाला।
(५) **वैश्वानरः** अर्थात् सब प्राणियों से सम्बन्ध जोड़नेवाला। इसी उपनिषद् में स्वप्न-अवस्था का इस प्रकार वर्णन है—

स्वप्नस्थानोऽन्तः प्रज्ञः सप्तांग एकोनविंशतिमुखः प्रविविक्तभुक् तैजसो द्वितीय पादः॥

(१) **अन्तःप्रज्ञः** अर्थात् भीतरी भागवाला।
(२) **सप्तांगः** अर्थात् सात अंगोंवाला।
(३) **एकोनविंशतिमुखः** अर्थात् १९ मुखोंवाला।
(४) **प्रविविक्तभुक्** अर्थात् वासनामात्र को भोगनेवाला।
(५) **तैजसः** अर्थात् तेजवाला।

माण्डूक्योपनिषद् में **सुषुप्ति** के विषय में कहा है—

यत्र सुप्तो न कंचन कामं कामयते न कंचन स्वप्नं पश्यति तत् सुषुप्तम् ॥

"जिस अवस्था में सोया हुआ प्राणी न कुछ कामना करता है न कोई स्वप्न देखता है उसे सुषुप्ति कहते हैं।"

तात्पर्य यह कि किसी ने सिर और प्राण को भी शामिल किया है। असली बात क्या है यह कहना कठिन है।

उन्नीस मुख ये हैं—पाँच ज्ञान-इन्द्रियाँ, पाँच कर्म-इन्द्रियाँ, पाँच प्राण, मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार। इनको शायद मुख इसलिए कहा गया है कि जिस प्रकार मुंह से भोजन करते हैं, उसी प्रकार ये उन्नीस जीव के भोगने के साधन हैं। जीव भोक्ता या भोगनेवाला है, और ये उन्नीस भोगने के उपकरण हैं। परन्तु भोग्य क्या है, इसमें मतभेद है। जाग्रत्-अवस्था में जीव को स्थूल-भुक् कहा गया है और स्वप्न में प्रविविक्तभुक्। जाग्रत्-अवस्था में स्थूल जगत् भोग्य है और स्वप्न-अवस्था में प्रविविक्त जगत्। 'प्रविविक्त' शब्द 'विजिच्' धातु से बना है। 'विविच्' का अर्थ है अलग करना (to abstract)। इसी से विवेक बनता है। 'प्रविविक्त' जगत् वह है जिसको आत्मा ने अपनी विवेचन-शक्ति द्वारा असली जगत् से अलग कर लिया है (Abstracted or drawn out)। तात्पर्य यह है कि जाग्रत् में तो प्राणी का संसर्ग बाह्य संसार में होता है, परन्तु स्वप्न में उस संसार से कोई संसर्ग नहीं रहता। स्वप्न का संसार ही और है। वह 'विविक्त संसार' है अर्थात् उस संसार को जीव ने अपनी विवेचना-शक्ति से रचा है। स्वप्न में

पदार्थ न होते हुए भी दीखते हैं, जैसा कि बृहदारण्यक उपनिषद् में है—

स यत्र प्रस्वपित्यस्य लोकस्य सर्वावतो* मात्रामपादाय स्वयं विहत्य स्वयं निर्माय स्वेन भासा स्वेन ज्योतिषा प्रस्वपिति ।

(बृह० ४-३-९)

अर्थात्—जब वह सोता है तो इस अर्थात् जाग्रत् लोक की मात्रा को लेकर, अपने शरीर को छोड़कर, चीज़ों को स्वयं बनाकर अपनी ही ज्योति के आश्रय से सोता है।

न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्त्यथ रथात् रथयोगान् पथः सृजते। तत्रानन्दा मुदः प्रमुदो भवन्त्यथानन्दान्मुदः प्रमुदः सृजते न तत्र वेशान्ताः पुष्करिण्यः स्रवन्त्यो भवन्त्यथ वेशान्तान् पुष्करिणीः सृजते स हि कर्त्ता। (बृह० ४।३।१०)

"वहाँ न रथ होते हैं न घोड़े आदि, न मार्ग। फिर भी रथों को, घोड़े आदि को, मार्गों को बना लेता है। वहाँ आमोद-प्रमोद के साधन नहीं होते, लेकिन वह आनन्द-आमोद के साधनों को बना लेता है। वहाँ नदी-तालाब आदि नहीं बहते, परन्तु वह बहनेवाले नदी-तालाब आदि को बना लेता है।"

जाग्रत्-अवस्था में प्राणी को बहिष्प्रज्ञ कहा है और स्वप्न में अन्तःप्रज्ञ। जाग्रत् में इसका सम्बन्ध बाहरी जगत् से होता है, वह बाहरी पदार्थों को जानता है; स्वप्न में बाहरी पदार्थ नहीं होते, उनके संस्कार होते हैं। यह बाहरी संस्कार ही तो "प्रविविक्त" है। जब हमारी आँख किसी फूल के संसर्ग में आती है तो आँख फूल को तो अपने भीतर ला नहीं सकती, समस्त फूल आँख में कैसे सो सकता है? आँख केवल रूप-सम्बन्धी संस्कार को

---

*सर्वा वा भूतभौतिक मात्राः अस्य संसर्गकारणभूता विद्यन्ते इति सर्ववान् सर्ववानेव सर्ववांस्तस्य सर्वावतो मात्रामेकदेशमवयवमपादायापच्छिद्याऽऽदाय गृहीत्वा⋯⋯ (शांकर भाष्य)

ले आती है। यही प्रविवेचन है। यह प्रविविक्त संस्कार सोते समय स्वप्न के रूप में फिर सामने आ जाता है और हमें ऐसा प्रतीत होता है मानो हम वास्तविक फूल देख रहे हैं।

इसी सम्बन्ध में आगे चलकर उसी उपनिषद् में लिखा है—

स्वप्नेन शारीरमभिप्रहत्यासुप्तः सुप्तानभिचाकशीति ॥

(बृह० ४।३।११)

इसपर श्री शंकराचार्य जी का भाष्य इस प्रकार से है—

स्वप्नेन स्वप्नभावेन शरीरं शरीरमभिप्रहत्य निष्चेष्टमापाद्यासुप्तः स्वयमलुप्तदृगादिशक्तिस्वाभाव्यात् सुप्तान् वासनाकारोद्भूतानन्तःकरणवृत्त्याश्रयान् बाह्याऽध्यात्मिकान् सर्वानेव भावान् स्वेनरूपेण प्रत्यस्तमितान् सुप्तानभिचाकशीत्यलुप्तयाऽऽत्मदृष्ट्या पश्यत्यवभासयतीत्यर्थः ॥

अर्थात्—स्वप्न में बाह्य शरीर के साथ सम्बन्ध नहीं रहता। बाह्य शरीर निश्चेष्ट हो जाता है, परन्तु आत्मा के वे उन्नीस मँह जो जाग्रत्-अवस्था में स्थूल जगत् का भोग कर रहे थे, लुप्त नहीं हो जाते, वे अलुप्त रहते हैं। बाहरी गोले के निश्चेष्ट हो जाने से भीतरी शक्तियाँ निश्चेष्ट नहीं हो जातीं; वे सचेष्ट रहती हैं, और इन्हीं सचेष्ट शक्तियों द्वारा वे उस संस्काररूपी जगत् को देखती है। इनका शंकराचार्य ने "**वासनाकारोद्भूतान्**" अर्थात् संस्काररूपी और "**अन्तःकरणवृत्त्याश्रयान्**" और भीतरी वृत्ति के आश्रयवाला कहा है।

सुषुप्ति-अवस्था क्या है? 'स्वप्न' और 'सुषुप्ति' दोनों शब्द संस्कृत के एक ही धातु अर्थात् 'स्वप्' से बने हैं जिसका अर्थ है, 'सोना'। 'स्वप्' में नक् प्रत्यय लगाने से 'स्वप्न' बनता है और 'क्तिन्' प्रत्यय तथा 'सु' उपसर्ग लगाने से 'सुषुप्ति' बनता है। इस प्रकार धात्वर्थ समान होते हुए भी पारिभाषिक अर्थों में भेद हो गया है। स्वप्न वह अवस्था है, जिसमें हम बाहरी जगत् के संस्कार-मात्र को शरीर के निश्चेष्ट होने पर भीतरी वृत्ति के द्वारा देखते हैं, परन्तु सुषुप्ति में न कुछ कामना करते हैं और न उन वासनाओं

को ही देखते हैं। सुषुप्ति के विषय में माण्डूक्य उपनिषद् में आगे चलकर लिखा है—

सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवाऽऽनन्दमयो ह्यानन्दभुक् चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीयः पादः ॥

अर्थात्—सुषुप्ति-अवस्था में जीव की वृत्तियाँ एक हो जाती हैं। वे न तो बाहर के पदार्थों से संसर्ग रखती हैं और न उन पदार्थों के संस्कारों से। वह प्रज्ञानघन होता है अर्थात् उसका ज्ञान व्यक्तित्व तक सीमित नहीं रहता। उनकी भावना मात्र रहती है। वह आनन्दवाला होता है और आनन्द को ही भोगता है। स्थूलभुक् और प्रविविक्तभुक् होने के लिए तो उन्नीस मुखों की आवश्यकता थी, आनन्द के लिए केवल चेतना की आवश्यकता होती है। अन्य कोई मुख नहीं चाहिये। इसीलिए इसको प्राज्ञ कहा है अर्थात् उच्चकोटि का ज्ञान हमको प्राप्त हो जाता है। प्रज्ञानघन होने से ही वह प्राज्ञ कहलाता है।

प्रज्ञानघन का अर्थ समझने के लिए हमको जाग्रत्-अवस्था और स्वप्न-अवस्था की सुषुप्ति-अवस्था के ज्ञान से तुलना करनी चाहिये। श्री शंकराचार्य जी ने प्रज्ञानघन का अर्थ अविवेक किया है। वह लिखते हैं—

स्वप्न जाग्रत् मनः स्पन्दनानि प्रज्ञानानि घनीभूतानीव। सेयमवस्थऽविवेकरूपत्वात् प्रज्ञानघन उच्यते। यथा रात्रौ नैशेन तमसाऽविभज्यमानं सर्वं घनमिव, तद्वत् प्रज्ञानघन एव।

अर्थात्—स्वप्न और जाग्रत् के मन की गतियाँ घनी हो जाती हैं। यह अवस्था विवेक-शून्य होने से प्रज्ञानघन कहलाती है। जैसे रात में अँधेरे के कारण सब काले बादल के समान अंधकार-ही-अंधकार प्रतीत होता है, उसी को प्रज्ञानघन कहते हैं।

परन्तु हमको यहाँ प्रधानघन का यह अर्थ ठीक नहीं जँचता। यह तो शंकराचार्य जी भी मानते हैं कि प्रज्ञानघन का अर्थ है "प्रज्ञानानि घनीभूतानि" अर्थात् प्रज्ञान घना हो जाता है। परन्तु 'घन' का अर्थ रात के समान काला-काला बादल या काले बादल के

समान विवेकशून्य मानना उनकी ही बात को काट देता है, क्योंकि आगे 'प्राज्ञ' का अर्थ करते हुए वह कहते हैं—

भूतभविष्यज् ज्ञातृत्वं सर्वविषयज्ञातृत्वमस्यैवेति प्राज्ञः ।

अर्थात्—भूत और भविष्यत् सभी का, सब विषय का ज्ञान-वाला होने की शक्ति होने के कारण उसको प्राज्ञ कहते हैं। यह प्राज्ञ अविवेक-रूप तो हो नहीं सकता। हमारा कहना है कि 'घनीभूत' प्रज्ञान का अर्थ है वह ज्ञान, जो अत्यन्त सूक्ष्म होते-होते ज्ञेय वस्तु की अपेक्षा से अलग होकर केवल निरपेक्ष रह जाय। सुषुप्ति-अवस्था में जीव का ज्ञान भी उसी निरपेक्ष अवस्था को प्राप्त हो जाता है। उस समय ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान के त्रित्व की कुछ भी भावना नहीं होती, जैसी कि स्वप्न और जाग्रत् में होती है। इसको एक उदाहरण से जान सकते हैं—शीशे के सफेद गिलास में लाल शर्बत भरने से लाल दिखाई देता है और हरा भरने से हरा। उस समय गिलास का वही रंग होता है जो उसके भीतर भरी हुई चीज़ का। परन्तु यदि गिलास को सर्वथा खाली कर दिया जाय तो उसका निरपेक्ष स्वरूप जाना जा सकता है। यह एक एकांगी उदाहरण मात्र है परन्तु कुछ-कुछ निरपेक्ष प्रज्ञान या घनी-भूत प्रज्ञान के समझने के लिए पर्याप्त है। इसकी अधिक व्याख्या नहीं की जा सकती, क्योंकि यद्यपि स्वप्न और जाग्रत् अवस्थाओं में समानता होने के कारण स्वप्न को जाग्रत् के भावों की तुलना करके शब्दों में वर्णन कर सकते हैं, तथापि सुषुप्ति-अवस्था अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण उस अवस्था का जाग्रत्-अवस्था से कुछ भी सादृश्य नहीं है और उस अवस्था को जाग्रत् के तराज़ू में तोला नहीं जा सकता। हम स्वप्न के लिए तो कह सकते हैं कि जिस प्रकार हमारे सामने कुर्सी रक्खी है, उसी प्रकार स्वप्न में भी दिखाई पड़ती है और हमारे मन की जो वृत्तियाँ सामने रक्खी हुई कुर्सी के कारण जाग्रत् हो रही हैं उसी के समान वृत्तियाँ स्वप्न में भी जाग्रत् हो जाती हैं, परन्तु सुषुप्ति की कोई किंचिन्मात्र भी समानता जाग्रत् से नहीं है, अतः शब्दों में उसका वर्णन नहीं

किया जा सकता। सुषुप्ति की समाप्ति पर जाग्रत्-अवस्था आती है। तब हमको ऐसा भान होता है कि बड़े आनन्द से सोए। परन्तु यह आनन्द का भान भी जाग्रत् का भान है। उससे थोड़ी देर पहले क्या अवस्था थी, वह जानी नहीं जा सकती। यह अनुभूति तो सभी को होती है कि कोई उत्तम अवस्था थी अवश्य, जिसके विषय में अब नहीं कह सकते, अन्यथा ऐसा भान क्यों होता कि बड़े आनन्द से सोए?

अब यहाँ प्रश्न यह है कि इन तीन अवस्थाओं का जीव के अस्तित्व पर क्या प्रभाव पड़ता है? भौतिकवादी इसकी व्याख्या किस प्रकार करते हैं?

हम प्रायः देखते हैं कि डॉक्टर लोग अपनी इच्छानुसार स्वप्न और सुषुप्ति दोनों अवस्थाओं को उत्पन्न कर सकते हैं। जब किसी रोगी को नींद नहीं आती तो अफ़ीम का पुट देकर नींद उत्पन्न कर दी जाती है। क्लोरोफ़ॉर्म देने पर सुषुप्ति की-सी अवस्था हो जाती है। इससे भौतिकवादी यह नतीजा निकालते हैं कि शरीर में विकार उत्पन्न होने से ही स्वप्न और सुषुप्ति आ जाती है।

यहाँ एक बात और विचारणीय है—जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति, ये तीन अवस्थाएं इतनी अलग-अलग नहीं हैं जितनी समझी जाती हैं। इनके बीच में कोई ऐसी दीवार खड़ी नहीं है जिससे एक-दूसरी को सर्वथा भिन्न कह सकें। अपितु, अवान्तर दशाएँ इस प्रकार आती रहती हैं कि जाग्रत् से सुषुप्ति तक एक क्रमबद्ध शृङ्खला बन जाती है। कई अवान्तर दशाओं के लिए यह कहना कठिन है कि यह जाग्रत्-अवस्था है या स्वप्न। यदि हम जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति को तीन मिले हुए कमरों से उपमा दें तो यों कहना चाहिए कि इनके बीच में बड़े चौड़े दरवाज़े हैं। जाग्रत् के कमरे से स्वप्न के कमरे में जाने से पहले इन दरवाज़ों की दहलीज़ों में होकर गुज़रना पड़ता है। हम यहाँ कुछ उदाहरण देते हैं। जाग्रत् के कमरे से चलिये—

(१) हमारी आँख, नाक, कान, आदि इन्द्रियाँ खुली हुई हैं।

ये बाहर की चीज़ों का अनुभव कर रही हैं। हम रूप-शब्द आदि देख-सुन रहे हैं। हम देख रहे हैं कि एक पुरुष बैठा हुआ हारमोनियम बजा रहा है और हारमोनियम की आवाज़ हमारे कानों में आ रही है।

(२) हारमोनियम बन्द हो गया, परन्तु उसकी आवाज़ अभी तक कानों में गूंज रही है। या, जिस विशेष दृश्य को हम देख रहे थे, वह दृश्य तो चला गया परन्तु अभी उसका चित्र आँखों के सामने है। जैसे हम रेल पर अपने किसी परम मित्र को पहुँचाने गए, रेल चल पड़ी, मित्र चला गया, परन्तु प्रतीत ऐसा होता है मानो वह मित्र अभी खड़ा-सा है।

(३) जिस दृश्य को देख या शब्द को सुन रहे थे, उसके हट जाने के बाद हम उनपर विचार कर रहे हैं। हमारी इन्द्रियाँ इतनी शिथिल हैं कि आँख के सामने से एक आदमी निकल गया था, किसी ने हमको नाम लेकर पुकारा, लेकिन हमको कुछ भी प्रतीत नहीं हुआ। हम सोते नहीं थे। आँख-कान खुले हुए थे, परन्तु उन्होंने रूप या शब्द ग्रहण नहीं किया। हम सोचने में मस्त हैं।

(४) हमको नींद आ रही है, अर्थात् अभी हम जागते हैं परन्तु जी चाहता है कि सो जाएँ। आँखें झपकती-सी जाती हैं।

(५) हमको नींद आ रही है और हम सोना भी चाहते हैं। परन्तु मस्तिष्क की एक ऐसी विचित्र दशा हो रही है कि नींद नहीं आती। हम चारपाई पर करवट बदल रहे हैं, चाहे तो किसी मानसिक व्यथा या चिन्ता के कारण, या शारीरिक गर्मी-सर्दी, या पीड़ा के कारण।

(६) हम सोने लगे। देखनेवाले समझते हैं कि हम सो गये, परन्तु हम उनकी बातें सुन रहे हैं। यदि उस समय हम बात कर सकते तो कहते कि न तो हम सोते ही हैं न जागते।

(७) हम सो गये, परन्तु स्वप्न देखने लगे। ये स्वप्न कई प्रकार के हैं। एक तो ऐसा स्वप्न देखा कि जागने पर शरीर पर

पड़ा हुआ कोई प्रभाव प्रतीत नहीं होता। हमने यात्रा भी की, खेले-कूदे भी, दुनियाभर की सैर की, परन्तु हमारे पास बैठे या पड़े हुए आदमी को कुछ न मालूम पड़ा।

(८) हमने स्वप्न ऐसा देखा कि मुँह से बड़बड़ाने लगे और पासवाले मनुष्य ने कहा—क्यों जी, तुमने अमुक बात क्यों कही? हमने आँख खोलकर कहा—हम स्वप्न देख रहे थे। यह ऐसी अवस्था है कि अन्य शिथिल इन्द्रियाँ बाहर के संस्कार नहीं ले सकतीं, परन्तु वाणी काम कर रही है।

(९) हम स्वप्न देख रहे थे। किसी ने ज़ोर से पुकारा, हम जाग पड़े।

(१०) हम घोर निद्रा को प्राप्त हो गये। अभी आध घण्टा ही हुआ है। एक आदमी जोर-जोर से पुकारता है। कई आवाजें दीं। हम नहीं जागे।

(११) चार-पाँच घण्टे सो लिये। मीठी नींद आ रही थी। बिल्कुल बेखबर थे। ज़रा किसी के पैर की आहट हुई, हम जाग पड़े।

(१२) हमको चार बजे प्रातःकाल की गाड़ी से जाना था। हम गहरी नींद सो रहे थे। चार बजने के करीब स्वयं जाग पड़े।

(१३) अवकाश का दिन है, पड़े सो रहे हैं। सूरज निकल आया है, परन्तु उठने का नाम नहीं।

इन सब दशाओं में थोड़ा भेद है। न तो जाग्रत्-अवस्था में हमारी सभी इन्द्रियाँ बाहर के विषयों को ग्रहण करती हैं और न सुषुप्ति या स्वप्न में बाहर के विषयों से सर्वथा अलग हो जाती हैं। यदि जाग्रत्-अवस्था वह अवस्था होती जिसमें हमारी इन्द्रियाँ बाहर के विषयों को अवश्य ही ग्रहण करतीं, तो ऊपर लिखी हुई तीसरी अवस्था को क्या कहते? क्योंकि, जब हम किसी ध्यान में मस्त हैं तो आँख खुली होने पर भी नहीं देख सकते। इसको स्वप्न या सुषुप्ति तो कह नहीं सकते, और यदि घोर निद्रा कही जाय तो इसमें किसी इन्द्रिय का बाहर से कुछ सम्बन्ध नहीं रहता। तब

किसी के ज़ोर से पुकारने या ललकारने पर हम क्यों जग पड़ते हैं ? इसके अतिरिक्त यदि सभी सुषुप्तियाँ एक-सी हों तो किसी में थोड़ी-सी आवाज़ से ही जग जाना और किसी में बहुत-सी आवाज़ों के बाद जागना क्यों होता है ?

पाठकों को बहुधा यह अनुभव हुआ होगा कि रात को आप सो रहे हैं, किसी ने सड़क पर से आवाज़ दी, हमने न सुनी। परन्तु यदि हमारा नाम पुकारकर आवाज़ दी गई तो हम जाग पड़े। क्यों ? उस समय हमारे कान क्या कर रहे थे ? क्या सुन रहे थे ? नहीं, क्योंकि हम सो रहे थे। क्या नहीं सुन रहे थे ? नहीं, क्योंकि यदि न सुनते तो हम जागते कैसे ? फिर जब हमारा नाम लेकर पुकारा गया तभी हम क्यों जागे ? शब्द तो यही थे, केवल अर्थों का भेद था।

कल्पना कीजिये कि आपका नाम देवीप्रसाद है। जबतक कोई 'शम्भूनाथ-शम्भूनाथ' कहकर पुकारता रहा, तबतक आप क्यों न जागे और 'देवीप्रसाद' कहते ही क्यों जाग पड़े ? जैसी आवाज़ 'शम्भुनाथ' शब्द की आपके कान तक गई, वैसी ही 'देवीप्रसाद' शब्द की, फिर देवीप्रसाद शब्द में क्या विशेषता थी कि सोते हुए को जगा दिया ? शायद आप कहेंगे कि 'देवीप्रसाद' शब्द आपका नाम था, उससे आपका बहुत दिनों का घनिष्ठ सम्बन्ध हो गया था, इसलिए सुनते ही आपने उसपर अधिक ध्यान दिया। परन्तु दूसरे शब्दों में इसका अर्थ तो यह हुआ कि आप ध्वनि तो सुन रहे थे, केवल कम ध्यान दे रहे थे। 'शम्भुनाथ' और 'देवीप्रसाद' दोनों ध्वनियाँ एक ही प्रकार से आपके कानों में पड़ रही थीं और आपको कुछ-कुछ सुनाई दे रही थीं। केवल 'देवीप्रसाद' ध्वनि ने आपको ध्यान देने के लिए आकर्षित कर दिया, अर्थात् जहाँ दोनों ध्वनियों में बाहरी आकर्षण समान था वहाँ पिछली ध्वनि में भीतर विशेष प्रोत्साहन हुआ। इसी प्रकार जब अवकाश के दिन आप देर तक सोते रहे तो मानो भीतर से आपकी निर्वाचित शक्ति कह रही थी कि आज काम कम है, देर तक सोने में भी कोई हर्ज

न होगा।

इन सब अवस्थाओं पर विचार करने से दो बातों का पता चलता है—एक तो यह कि कोई निर्वाचन करनेवाली सत्ता है जो ऊपर लिखी हुई सभी दशाओं में काम करती रहती है; दूसरे यह कि इस निर्वाचन करनेवाली सत्ता का शरीर से कुछ-न-कुछ सम्बन्ध अवश्य रहता है। वस्तुत: यदि उस सत्ता का शरीर से कुछ सम्बन्ध न हो तो ये अवस्थाएँ भी उत्पन्न न हों। ये अवस्थाएँ न तो केवल शरीर की हैं और न केवल उस निर्वाचन करनेवाली शक्ति की ही। वह शक्ति शारीरिक नहीं है। शारीरिक व्यापारों से ऊपर भी एक सत्ता है जो शारीरिक प्रभावों का किसी-न-किसी मात्रा में बाध करती रहती है। उदाहरण के लिए कल्पना कीजिये कि आपको नींद आने लगी, आप चारपाई पर जा लेटे। यह नींद आपकी शारीरिक थकावट को प्रकट करती है। आप काम करते-करते इतने थक गये हैं कि अब आगे काम करना कठिन हो गया है। साधारण परिस्थिति में आप चारपाई पर जाते ही सो जाते और शायद कई घंटे सोते रहते, पर उसी समय या तो आपको स्वयं किसी दुर्घटना की याद आ गई या किसी ने आपके परम मित्र के रोग या मृत्यु का समाचार सुना दिया। उस समय क्या हुआ? नींद उचट गई और रातभर आँख न लगी। क्यों? क्या यह नींद का आना शारीरिक व्यवस्था थी? हां! क्या इसका कारण शारीरिक घटना थी? नहीं! शरीर की व्यवस्था सोने के पक्ष में थी। दुर्घटना का ज्ञान शरीर से युद्ध कर रहा था। चिन्ता का कारण शारीरिक हो सकता है, परन्तु चिन्ता स्वयं शारीरिक नहीं है। चिन्ता शरीर की नहीं होती, शरीर के कारण आत्मा की होती है।

डॉक्टर लोग क्लोरोफ़ॉर्म देकर कृत्रिम सुषुप्ति ला सकते हैं, अर्थात् वे शरीर में कुछ ऐसा परिवर्तन कर सकते हैं जैसा नींद के समय होता है। यह कृत्रिम सुषुप्ति सामान्य सुषुप्ति से कहीं अधिक गहरी होती है। क्योंकि, सामान्य सुषुप्ति शरीर के ललकारने से

ही समाप्त हो जाती है, परन्तु कृत्रिम सुषुप्ति में अंगों का विच्छेद करने पर भी पीड़ा प्रतीत नहीं होती। इससे यह क्यों समझना चाहिये कि इस शरीर के भीतर ऐसी कोई सत्ता काम नहीं कर रही जो अभौतिक हो ? क्लोरोफ़ॉर्म बाह्य साधनों और उपकरणों को निश्चेष्ट कर देता है। परन्तु जब क्लोरोफ़ॉर्म के प्रभाव को दूर कर देते हैं तो चेतना का फिर आविर्भाव हो जाता है। यदि क्लोरोफ़ॉर्म उचित मात्रा से अधिक या देर तक लगाया जाय तो मृत्यु हो जाती है और फिर चेतना लौट नहीं सकती। यदि चेतना कोई अभौतिक वस्तु न होती तो मृत्यु के पश्चात् भी लौट सकती। जब डॉक्टर लोग क्लोरोफ़ॉर्म देते हैं तो वे निरन्तर रोगी का निरीक्षण करते रहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि यद्यपि क्लोरोफ़ॉर्म द्वारा कुछ उपकरण निश्चेष्ट हो चुके हैं तथापि अन्य उपकरणों से निरन्तर काम लिया जा रहा है। यही काम चेतना के अस्तित्व का प्रमाण है।

□

अध्याय १८

तीन शरीर और पाँच कोश

गत अध्यायों में यह देखने का यत्न किया गया है कि जिसको हम साधारण बोलचाल में जीवन या ज़िन्दगी कहते हैं और जिससे शिक्षित और अशिक्षित सभी पुरुष अभिज्ञ हैं, उसका आदिस्रोत या आधार एक ऐसी सत्ता है जिसका नाम जीव या जीवात्मा है। यह आत्मा अभौतिक नहीं, भौतिक नहीं। जिन भूतों से शरीर बना है वे अलग-अलग या मिलकर चेतनता उत्पन्न नहीं कर सकते, और न भौतिक नियमों के आधार पर जीवन की जटिल समस्या की व्याख्या हो सकती है। प्रिंसिपल रिचर्डसन (Lewis Fry Richardson, F. R. S., Principal of the Technical College, Paisley) ने ठीक कहा है—

"Do you expect that ultimately all experience will be explained in terms of those abstracts from experience which we call physics and chemistry ? To this reply is 'No.' All experience is much wider than the abstracts named."

(**The Religion of Scientists,** p. 35)

अर्थात्—"क्या तुम आशा रखते हो कि समस्त अनुभव की मौलिक व्याख्या अनुभव के उन अंशों के शब्दों में हो सकेगी जिसको हम भौतिक विज्ञान और रसायन कहते हैं ? मेरा उत्तर यह है कि 'नहीं।' समस्त अनुभव का विस्तार इन ऊपर दिये गए अंशों से कहीं अधिक है।"

कुछ लोगों का आक्षेप है कि जीव को 'अभौतिक' कहने से कुछ समझ में नहीं आता। निषेधात्मक व्याख्या का होना या न होना

बराबर है। यदि घोड़े के यह लक्षण किये जायँ कि 'वह गधा नहीं है' तो इससे क्या समझ में आयेगा ? माना कि जीवात्मा अभौतिक है और उसमें अभौतिकत्व का तत्त्व निषेध है, तथापि प्रश्न होता है कि यह है क्या ? इसके लिए हम बता चुके हैं कि जीव वह सत्ता है जिसमें ज्ञातृत्व, कर्तृत्व और भोक्तृत्व पाया जाय, अर्थात् जिसमें जानने, करने और भोगने के लक्षण हों। यह लक्षण तो निषेधात्मक नहीं है। ज्ञान, क्रिया और भोग को सभी समझ सकते हैं। ये तीनों चीज़ें भौतिक पदार्थों में पाई नहीं जातीं। ज्ञान और भोग के विषय में तो कोई सन्देह हो नहीं सकता, रह गई क्रिया। यह क्रिया भी भौतिक पदार्थों में जहाँ कहीं पाई जाती है वह उनकी वास्तविक नहीं होती, अपितु किसी चेतन पदार्थ से आती है।

यहाँ एक प्रश्न उठता है—क्या चेतन बिना जड़ या भौतिक पदार्थ के ज्ञान, क्रिया और भोग कर सकता है ? हम जिस चीज़ को जानते हैं वह भौतिक पदार्थ है। हम जो क्रिया करते हैं वह भौतिक पदार्थों में ही समाविष्ट है। यदि बिना जड़ पदार्थों के ज्ञान, क्रिया और भोग सम्भव ही नहीं हैं तो इनको अलग चेतन सत्ता से सम्बद्ध क्यों किया जाय? इसका उत्तर यह है कि विषय और विषयी दो पदार्थ हैं। वे एक नहीं हो सकते। यदि मैं किसी पहाड़ को देखता हूँ और यदि पहाड़ न होता तो मैं किसको देखता ? इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि पहाड़ ही सब-कुछ है, मैं देखनेवाला कुछ नहीं। वस्तुतः हमारा साधारण ज्ञान भौतिक पदार्थों का ही है। ज्ञान भी अनुभव, स्मृति आदि सभी अभौतिक घटनाओं से ओत-प्रोत है और जिनका उल्लंघन घटनाएँ कभी नहीं कर सकतीं। वह नियम भी अभौतिक है। हमको बहुत-सी चीज़ों का ज्ञान होता है जो भौतिक हो ही नहीं सकतीं। यही भोगी का हाल है। दुःख और दुःख का साधन एक नहीं, और न सुख और सुख का साधन एक बात है। मैं मीठा दूध पीता हूँ। कभी-कभी कहता हूँ कि दूध इतना मीठा हो गया कि पिया नहीं जाता, स्वादरहित हो

गया। इसका क्या अर्थ है ? यही न कि शकर तो मीठी है, परन्तु उसका अच्छा या बुरा लगना शकर से बाहर एक सत्ता में है। क्रिया के विषय में भी ऐसा ही समझना चाहिये। शरीर केवल क्रिया का उपकरण है। करनेवाला तो कोई और ही है। इस सम्बन्ध में लोग कुछ प्रश्न किया करते हैं, जैसे—

जीवात्मा सोता है या शरीर ? 'मैं सोता हूँ' का क्या अर्थ ?

जीवात्मा अन्धा है या शरीर ? 'मैं अंधा हूँ' का क्या अर्थ ?

जीवात्मा लँगड़ा है या शरीर ? 'मैं लँगड़ा हूँ' का क्या अर्थ ?

जीवात्मा दुःखी है या शरीर ? 'मैं दुःखी हूँ' का क्या अर्थ ?

इस प्रकार के बहुत-से प्रश्न किये जाते हैं, और भिन्न-भिन्न लोगों ने इसके भिन्न-भिन्न उत्तर दिये हैं। कुछ का कहना है कि आत्मा अभौतिक होने से लँगड़ा या अन्धा नहीं हो सकता। सोना-जागना, खाना-पीना, रोना-हँसना, ये सब शरीर के धर्म हैं, जीवात्मा के नहीं।

परन्तु यह उत्तर सर्वथा संतोषजनक नहीं है। जो उत्तर देते हैं वे उसको भली-भाँति समझते नहीं। 'मैं अन्धा हूँ' शब्द का क्या अर्थ ? यही न कि 'मैं नेत्रहीन हूँ' ? जब मैं कहता हूँ 'निर्धन हूँ' तो इसका अर्थ यह है कि मैं एक ऐसी सत्ता हूँ जिसके पास धन नहीं। इसी प्रकार जब मैं कहता हूँ कि अन्धा या नेत्रहीन हूँ तो मेरा तात्पर्य स्वयं अपने से है। यदि जीवात्मा चेतन न होता तो नेत्ररूपी उपकरणों की आवश्यकता न होती और न जीवात्मा नेत्रों के अभाव का अनुभव करके कहता है कि मैं अन्धा हूँ। 'मैं दुःखी हूँ' का अर्थ तो हो सकता है कि शरीर या अन्य भौतिक वस्तुएँ मेरे दुःख का कारण बनी हुई हैं, परन्तु यदि मैं न होता तो ये दुःख किसको देतीं ? सोने और जागने का भी यही तात्पर्य है। ये व्यापार जीवात्मा के द्वारा ही होते हैं। केवल इनके करने में आवश्यकता भौतिक उपकरणों की पड़ती है। यह सर्वथा भौतिक व्यापार नहीं है।

अब हम यह देखना चाहते हैं कि जीवात्मा का शरीर से क्या

सम्बन्ध है? गीता (अ० २/२२) में लिखा है कि—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही॥

अर्थात्—जिस प्रकार हम अपने कोट को उतारकर दूसरा कोट पहन लेते हैं, उसी प्रकार जीवात्मा मृत्यु के समय इस शरीर-रूपी कोट को उतारकर दूसरा शरीर-रूपी कोट पहन लेता है।

कठोपनिषत् में कहा है—

आत्मानं रथिनं विद्धि, शरीरं रथमेव तु।
बुद्धि तु सारथिं विद्धि, मनः प्रग्रहमेव च॥
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयाँस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥

(कठोपनिषत् १।३।३-४)

अर्थात्—शरीर रथ है, बुद्धि कोचवान है, मन लगाम है और इन्द्रियाँ घोड़े हैं। जीवात्मा रथ का मालिक या सवार है।

परन्तु गीता की कोटि की उपमा और कठोपनिषत् की रथ की उपमा केवल एकअंशीय हैं, और इनकी उपयोगिता प्रसंग के देखने में ही प्रतीत होती है। जब हम किसी वस्तु के लिए उपमा तलाश करते हैं तो उस समय हमारे मस्तिष्क में जो प्रसंग होता है उसी को स्पष्ट करने के लिए उपमा देते हैं, पर यह उपमा दूसरे प्रसंग में काम नहीं दे सकती। जैसे, यदि किसी राजा की वीरता की उपमा देनी हो तो उसे शेर कहेंगे, और उसके न्याय व विवेचन-शक्ति की तो उसे हंस कहेंगे। प्रसंग का ध्यान छोड़ते ही उपमाएं निरर्थक हो जाएँगी। राजा न तो शेर है, न हंस। युद्ध के समय उसमें हंस का एक भी गुण विद्यमान नहीं और न न्याय के समय शेर का कोई गुण। इसी प्रकार गीता और उपनिषद् की दो उपमाएँ भिन्न-भिन्न प्रसंगों को दृष्टि में रखकर बनाई गई हैं। गीता में प्रसंग यह था कि शरीर-त्याग पर अत्यन्त दुःखी नहीं होना चाहिये, यह शरीर तो फिर भी मिल सकेगा। इसीलिए फटे कोट की उपमा दी गई। कठोपनिषत् में इन्द्रियों को वश में रखने और

उनसे यथोचित कार्य लेने का प्रसंग था। इसीलिये रथ और घोड़ों की उपमा दी गई। परन्तु हमारे वर्तमान प्रसंग में दोनों उपमाएँ विषम पड़ती हैं। कुर्त्ता और शरीर, रथी और रथ के सवार का इतना घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं जितना शरीर और जीव का। कुर्त्ता शरीर से अलग होने पर कुर्त्ता है। रथ उस समय भी रथ है जब उसमें कोई सवार बैठा नहीं। परन्तु जीव से अलग होने पर शरीर नहीं रहता। कुर्ते के आपस में जुड़े रखने के लिए शरीर की आवश्यकता नहीं। रथ के पहिये जोड़ने के लिए सवार की आवश्यकता नहीं। परन्तु शरीर की उत्पत्ति, वृद्धि तथा स्थिति के लिए जीव की आवश्यकता है। कोट का बटन टाँकने के लिए कोट को अलग उतारकर टाँकते हैं। परन्तु क्या उसी प्रकार शरीर को जीव से अलग करके उसमें नाक, कान या कोई अंग जोड़ सकते हैं? कदापि नहीं। डॉक्टर का चीर-फाड़ करना भी तभी तक काम देता है जबतक जीव विद्यमान है। मुर्दे के फोड़े-फुंसी चीर-फाड़कर चंगे नहीं किये जा सकते। जिस प्रकार शरीर जीव के साथ-साथ बढ़ता है, उसी प्रकार रथ या कोट नहीं बढ़ता। शरीर जीव को बना-बनाया नहीं मिलता, किन्तु बनाना पड़ता है। इसको कुछ-कुछ एक उदाहरण से समझ सकते हैं। एक गन्ना लो। उसका रस निकालो। गन्ने में से एक गिलास रस निकलेगा। यदि कोई पूछे कि यह रस गन्ने में किसने और कब डाला? तो इसका क्या उत्तर होगा? रस गन्ने में ऊपर से डाला नहीं जाता, किन्तु गन्ने के साथ उसकी वृद्धि होती है। इसी प्रकार जीव के कारण ही शरीर में वह सब संवृद्धयात्मक व्यवहार होते रहते हैं जिनसे शरीर अति छोटी अवस्था से बड़ी अवस्था को प्राप्त होता है। मुर्दे के मुँह में दूध डालने से दूध का रस नहीं बनता, किन्तु जीवित बालक दूध को पचाकर अपने शरीर को बढ़ाता रहता है।

शास्त्रों में तीन शरीर माने गए हैं—पहला है **कारण शरीर**। यह प्रकृति की सूक्ष्मतम अवस्था है जिसमें किसी प्रकार का विचार उत्पन्न नहीं होता। प्रकृति के विकृत रूप को ही सृष्टि कहते हैं।

इस विकृत रूप के भीतर प्रकृति का मौलिक रूप भी ओत-प्रोत रहता है। यह रूप ही जीव का कारण शरीर है। यह शरीर सब जीवों का सामान्य है। इसको जीव का शरीर इसलिए कहते हैं कि जीव इसमें भी सूक्ष्म होने के कारण व्यापक रहता है। इससे जीव का कभी छुटकारा नहीं हो सकता। परन्तु इससे जीव को बन्धन प्राप्त नहीं होता। इसको जीव का निवास-स्थान तो कह सकते हैं, परन्तु कैदखाना नहीं। यह प्रकृति सर्वत्र व्यापक होने से जीव के व्यवहार में रुकावट नहीं डाल सकती। मोटे उदाहरण से समझ सकते हैं कि जैसे आकाश पक्षियों की उड़ान का निवास-स्थान है, परन्तु रुकावट नहीं। घर की दीवारें रुकावट हैं। इसी प्रकार प्रकृति का मौलिक रूप जिसमें अभी सत्, रज और तम के विकार उठने आरम्भ नहीं हुए, जीव का निवास-स्थान है।

दूसरा है **सूक्ष्म शरीर**। यह कारण शरीर की अपेक्षा स्थूल है। परन्तु जिसे हम भौतिक शरीर कहते हैं, उसकी अपेक्षा सूक्ष्म है। चूँकि हमारी सब इन्द्रियाँ और सब यन्त्र स्थूल हैं, इसलिए यह सूक्ष्म शरीर अतीन्द्रिय और अति-यन्त्र है, अर्थात् इसको हम किसी इन्द्रिय या यन्त्र से देख नहीं सकते। हाँ, अन्तर्मुखी वृत्ति से इसका भान हो सकता है। मैं दूसरों के सूक्ष्म शरीर को नहीं देख सकता, क्योंकि जिन इन्द्रियों या उपकरणों से मैं अपने बाहर की चीज़ें देखता हूँ उनसे सूक्ष्म शरीर अगोचर और अग्राह्य है। परन्तु मैं स्वयं अपने अन्तःकरण से उसका भान कर सकता हूँ। यह कैसे? ज़रा कोशिश कीजिये। मुझमें वह शक्ति है कि नाक रहते हुए भी मैं नाक से अपना ध्यान हटा लूँ और नाक के विषय में कुछ न सोचूँ। मुझमें वह शक्ति है कि उस समय नाक से कोई काम न लूँ और मेरी नाक के पास रक्खे हुए फूल की सुगन्धि मुझ तक न पहुँचे। इस प्रकार स्थूल शरीर के भिन्न-भिन्न अंगों से **व्यतिरेक** करने की शक्ति भिन्न-भिन्न मात्रा में सभी को होती है। स्वप्न में स्थूल शरीर का व्यतिरेक हो जाता है। कल्पना करने की दशा में भी कुछ-कुछ ऐसा ही होता है। परन्तु इन दोनों

अवस्थाओं में हम अपने आन्तरिक अस्तित्व को अनुभव करते हैं। स्मृति, कल्पना, पुराने संस्कार आदि जो ऐसी अवस्था में भिन्न-भिन्न रूप में उठते हैं, वे स्थूल शरीर के व्यापार नहीं हैं। वस्तुतः वे सूक्ष्म शरीर के व्यापार हैं।

तीसरा है **स्थूल शरीर**। इसमें त्वचा, हड्डी, रूप आदि से लेकर वे छोटे-छोटे तन्तु भी सम्मिलित हैं जो केवल अन्वीक्षण यन्त्र से ही देखे जा सकते हैं, या जिनके अस्तित्व का उनके व्यापार के कारण ही प्रमाण मिलता है। इसमें मस्तिष्क और मस्तिष्क-सम्बन्धी सम्पूर्ण बैटरी सम्मिलित है। जाग्रत्-अवस्था में हम इस शरीर से विशेष सम्बन्ध रखते हैं।

यहाँ एक बात याद रखनी चाहिये कि जब हमारा सम्बन्ध स्थूल शरीर से होता है तो सूक्ष्म शरीर से सम्बन्ध टूट नहीं जाता, और न कारण शरीर से। क्योंकि, स्थूल शरीर के भीतर सूक्ष्म शरीर विद्यमान है और सूक्ष्म के भीतर कारण शरीर।

इन तीनों शरीरों को एक और रीति से भी प्रकट किया गया है जिनको कोश कहते हैं, अर्थात् ये तीनों शरीर मिलकर पाँच कोशों में विभक्त किये गए। इनके नाम हैं—

(१) अन्नमय कोश, (२) प्राणमय कोश, (३) मनोमय कोश, (४) विज्ञानमय कोश, (५) आनन्दमय कोश।

तैत्तिरीय उपनिषत् ब्रह्मानन्दवल्ली दो में इन कोशों का वर्णन इस प्रकार किया गया है—

(१) स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः।

(२) तस्माद् वा एतस्मादन्नरसमयात्। अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः। तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधताम्। अन्वयं पुरुषविधः।

(३) तस्माद्वा एतस्मात् प्राणमयात्। अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः। तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधताम्। अन्वयं पुरुषविधः।

(४) तस्माद् वा एतस्मान् मनोमयात्। अन्योऽन्तर आत्मा

विज्ञानमयः। तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधताम्। अन्वयं पुरुषविधः।

(५) तस्माद् वा एतस्माद् विज्ञानमयात्। अन्योऽन्तर आत्मा आनन्दमयः। तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधताम्। अन्वयं पुरुषविधः।

अर्थात्

(१) ऊपरी कोश अन्नमय है।

(२) इससे अलग कोश प्राणमय है। अन्नमय कोश प्राणमय कोश से भरपूर है। यह प्राणमय कोश पुरुष के ही समान है। यह प्राणमय पुरुष वैसा ही है जैसा अन्नमय पुरुष है।

(३) इस प्राणमय कोश से अलग मनोमय कोश है। प्राण-मय कोश मनोमय कोश से भरभूर है। यह मनोमय कोश पुरुष के ही समान है। यह मनोमय पुरुष वैसा ही है जैसे प्राणमय पुरुष है।

(४) इस मनोमय कोश से अलग विज्ञानमय कोश है। मनो-मय कोश पुरुष के ही समान है। यह विज्ञानमय पुरुष वैसा ही है जैसा मनोमय पुरुष है।

(५) इस विज्ञानमय कोश से अलग आनन्दमय कोश है। विज्ञानमय कोश आनन्दमय कोश से भरपूर है। यह आनन्दमय कोश पुरुष के ही समान है। यह आनन्दमय पुरुष वैसा ही है जैसा विज्ञानमय पुरुष है।

यहाँ तीन बातें बताईं—

(१) ये पाँच कोश एक-दूसरे से इतर हैं, एक नहीं।

(२) एक कोश दूसरे कोश से भरपूर है, अर्थात् जिसको अन्नमय कोश कहते हैं उसमें प्राणमय कोश, मनोमय कोश, विज्ञान-मय कोश और आनन्दमय कोश भी शामिल हैं। कोई अन्नमय कोश ऐसा नहीं है जिसमें अन्य चार कोश न हों। इसी प्रकार प्राणमय कोश में अन्य तीन कोश शामिल हैं। मनोमय कोश में

अन्य दो, विज्ञानमय कोश में अन्य एक अर्थात् आनन्दमय।

(३) ये पाँचों कोश एक-दूसरे से अलग होते हुए भी एक-दूसरे के समान हैं, अर्थात् एक कोश दूसरे कोश का अन्वय या अनुसरण करता है। यह 'अन्वय' बड़े काम की चीज़ है और पाठकगण को इस बात पर पूरा ध्यान देना चाहिये। हम आगे चलकर यथासमय बतायेंगे कि एक कोश दूसरे कोश का अन्वय किस प्रकार करता है।

शरीरों, तीन अवस्थाओं और पाँच कोशों का सम्बन्ध इस प्रकार बताया गया है—

अवस्था	शरीर	कोश
१. जाग्रत्	१. स्थूल शरीर	१. अन्नमय कोश
२. स्वप्न	२. सूक्ष्म शरीर	२. प्राणमय कोश ३. मनोमय कोश ४. विज्ञानमय कोश
३. सुषुप्ति	३. कारण शरीर	५. आनन्दमय कोश

पंचदशी के पंचकोश-विवेक-प्रकरण में इसी विषय को यों वर्णन किया है—

देहादभ्यन्तरः प्राणः प्राणादभ्यन्तरं मनः।
ततः कर्त्ता ततो भोक्ता गुहा सेयं परम्परा॥

(३।२)

अर्थात्—देह के भीतर प्राण, प्राण के भीतर मन, मन के भीतर कर्त्ता, कर्त्ता के भीतर भोक्ता—यह परम्परा हुई।

पितृभुक्तान्नजाद्वीर्याज् जातोऽन्नेनैव वर्धते।
देहः सोऽन्नमयो नात्मा प्राक् चोर्ध्वं तदभावतः॥

(३१३)

अर्थात्—पिता के खाये अन्न से उत्पन्न हुए वीर्य से पैदा हुई और अन्न से ही बढ़नेवाली देह अन्नमय कोश है। [आत्मा नहीं, है, क्योंकि जन्म से पूर्व और मरण के अनन्तर उस देह का अभाव है।]

पूर्णो देहे बलं यच्छन्नक्षाणां यः प्रवर्तकः।
वायुः प्राणमयो नासावात्मा चैतन्यवर्जनात्॥

(३१५)

देह में पूर्ण बल देनेवाला, इन्द्रियों का प्रेरक वायु प्राणमय कोश है। [वायु चैतन्य होने से रहित होने से आत्मा नहीं हो सकता।]

अहं तां ममतां देहे गेहादौ च करोति यः।
कामाद्यवस्थया भ्रान्तो नासावात्मा मनोमयः॥

(३१६)

जो देह में 'मैं हूँ' ऐसा भाव रखता है और घर आदि में ममता रखता है और अनेक कामनाओं की अवस्था में घूमता है वह मनोमय कोश है। यह आत्मा नहीं है (अर्थात् आत्मा इससे भिन्न इसके भीतर व्यापक है)।

लीना सुप्तौ वपुर्बोधे व्याप्नुयादानखाग्रगा।
चिच्छायोपेतधीर्नात्मा विज्ञानमयशब्द भाक्॥

(३१७)

जो सुषुप्ति में विलीन हो जाय और जागने पर नाखुन के किनारों तक व्यापक रहे और चेतन अर्थात् चेतनयुक्त है, वह विज्ञानमय कोश है, आत्मा इससे अलग पदार्थ है।

काचिदन्तर्मुखावृत्तिरानन्दप्रतिबिम्बभाक्।
पुण्यभोगे भोगशान्तौ निद्रारूपेण लीयते॥

(३१९)

एक भीतर की ओर मुख करनेवाली वृत्ति आनन्दमय कोश है जिसमें पिछले पुण्य के भोग से आनन्द का अनुभव होता है या निद्रा के रूप में लय हो जाती है।

पंचदशी में पंचकोशों का सम्बन्ध इतना अच्छा नहीं है जितना तैत्तिरीय उपनिषद् में। विज्ञानमय और आनन्दमय के लिए 'कर्त्ता' और 'भोक्ता' शब्द भी उचित प्रतीत नहीं होते, क्योंकि विज्ञानमय में कर्त्तृत्व का भाव बहुत कम होता है। उपनिषद् में इस प्रकार का कोई संकेत नहीं है।

स्थूल शरीर को अन्नमय कोश कहा है और उसको जाग्रत्-अवस्था के साथ सम्बद्ध किया है, परन्तु स्थूल शरीर का जितना व्यापार है वह सूक्ष्म शरीर के बिना नहीं हो सकता। हम जाग्रत्-अवस्था में ज्ञान प्राप्त करते, अनेक प्रकार के भावों से सम्बन्धित होते और सुख-दुःख का अनुभव करते हैं। यह सब अन्नमय कोश का ही व्यापार नहीं है। अन्नमय कोश को धारण करने के लिए जिन व्यापारों की आवश्यकता होती है, वे भी शरीर द्वारा ही होते हैं। इसी प्रकार स्वप्न या सुषुप्ति-अवस्था में हमारा सम्बन्ध अन्नमय कोश से टूट नहीं जाता। रात को खाना खाकर गहरी नींद सो जाइये। प्रातःकाल अनुभव होगा कि जो खाना रात को खाया, वह सब पचकर रक्त बन गया। यदि उस समय स्थूल शरीर का व्यापार बन्द हो जाता तो हमारे पेट का भोजन वैसा ही बना रहता। स्थूल शरीर-सम्बन्धी कई व्यापार तो सुषुप्ति-अवस्था में अधिक वेग से होने लगते हैं, जैसे कई प्रकार के शारीरिक रोगों की चिकित्सा ही यह है कि रोगी को गहरी नींद आ जाय। गहरी नींद में घावों के भरने की शक्ति आ जाती है। शिर में पीड़ा हो और किसी प्रकार नींद आ जाय तो सिर की पीड़ा बन्द हो जाती है। गहरी नींद के पीछे उठने से शरीर में ताज़गी मालूम होती है। इससे उपनिषद् के उस संकेत की पुष्टि होती है जिससे ऊपरी कोशों को भीतरी कोशों से पूर्ण बताया है।

हम यह स्पष्ट कर चुके हैं कि खाल, हड्डी, रक्त, मज्जा आदि से लेकर अत्यन्त बारीक ज्ञानात्मक तथा प्रेरणात्मक तन्तु-जाल की गणना स्थूल शरीर में है। इसे अन्नमय कोश कहते हैं। यह कोश अन्न का बना हुआ है। जो अन्न हम खाते हैं, वह जल तथा वायु आदि के सहारे भिन्न-भिन्न रसों में परिवर्तित होता रहता है। वैद्यक शास्त्र में इसके सात परिणाम बताए हैं। सातवाँ वायु है। वीर्य का अतिसूक्ष्म भाग 'ओज' है। इस ओज से वे बारीक तन्तु बनते हैं जिनको वात या स्नायु संस्थान (Nervous System) कहते हैं। यह स्नायु-संस्थान अन्नमय कोश और प्राणमय कोश के मध्य का सीमान्त प्रान्त (border-land) है। वह बारीक तन्तु-जाल तो अवश्य अन्नमय है। इसमें उत्तम खाद्य पदार्थों के खाने से शक्ति आती है। निकृष्ट भोजन खाने या उत्तम भोजन न खाने से यह तन्तुजाल दुबला हो जाता है। इसका मोटा प्रमाण वह पौष्टिक पदार्थ है जिसको अंग्रेज़ी में नरवाइन टॉनिक (Nervine tonic) कहा करते हैं। परन्तु इन बारीक तन्तुओं द्वारा जो शक्ति काम करती है वह सूक्ष्म शरीर से आती है, अर्थात् सूक्ष्म शरीर भी सबल और दुर्बल होता है। उसी के बल पर स्थूल शरीर काम करता है।

सूक्ष्म शरीर के तीन कोश बताये गए—एक प्राणमय, दूसरा मनोमय, तीसरा विज्ञानमय। ये कोश तो हैं, परन्तु इस प्रकार नहीं जैसे प्याज़ के छिलके, एक के ऊपर दूसरा। एक अति सूक्ष्म शरीर के ये तीन भाग किस प्रकार हैं यह कहना कठिन है। स्थूल जगत् से इस प्रकार की उपमा मिलना कठिन है जिससे इन कोशों का सम्बन्ध ठीक प्रकार से समझ में आ जाय; परन्तु इन कोशों का जो प्रभाव पड़ता है, उससे इनके कामों के विषय में कुछ ज्ञान हो सकता है। प्राणमय कोश प्रेरणात्मक या क्रियात्मक विभाग है। समस्त क्रियाशीलता इसी कोश से आरम्भ होती है। इसको इच्छाशक्ति (Will-power) का केन्द्र कह सकते हैं। प्राण का अर्थ श्वास-प्रश्वास नहीं है। इस सम्बन्ध में कहीं-कहीं जो

वायु या वात शब्द का प्रयोग आया है उसको भी हवा (Air) के अर्थ में नहीं लेना चाहिए। प्राय: लोग उसी को प्राण कहते हैं जो वायु श्वास के साथ बाहर निकलता या भीतर जाता है, परन्तु यह वायु प्राण नहीं है। प्राण वह शक्तिविशेष है जिससे श्वास ही नहीं, किन्तु निमेष-उन्मेष तथा शरीर की समस्त क्रियाएँ होती हैं। प्राणमय कोश के दुर्बल हो जाने से सुस्ती आती है। जिनका प्राण प्रबल है वे क्रिया-शीलता से परिपूर्ण रहते हैं।

मनोमय कोश उस कोश का नाम है जिसके द्वारा आत्मा में अनेक भाव (Emotions) उठते हैं जैसे—भय, शोक, विषाद, प्रीति इत्यादि। जितनी क्रियाशीलता है उस सबकी पीठ पर ये भाव स्थित रहते हैं। इन्हीं भावों से प्रेरणाएँ होती हैं। मनोमय और प्राणमय के बीच में कोई बड़ी दीवार नहीं है। जिस प्रकार गहरे नीले रंग के बीच में ऐसे रंग आ सकते हैं जिनको नीला और श्वेत दोनों ही कह सकते हैं, इसी प्रकार बहुत-से सूक्ष्म भाव हैं जिनके लिए यह कहना कठिन है कि प्राणमय कोश से सम्बन्ध रखते हैं या मनोमय से। कहीं-कहीं तो भेद इतना स्थूल है कि आप झट समझ जाएँगे। जैसे किसी को भय हुआ और वह भाग निकला। यहाँ भय का सम्बन्ध मनोमय कोश से है और भागने का प्राणमय से। परन्तु कहीं-कहीं भेद इतना सूक्ष्म है कि उसका विश्लेषण करने में कठिनाई पड़ती है और भिन्न-भिन्न मनोवैज्ञानिक इनको भिन्न-भिन्न कोटियों में रख सकते हैं।

विज्ञानमय कोश में विज्ञान-विभाग समझना चाहिये। जिसको हम मस्तिष्क कहते हैं वह तो संस्कार ही बाहर से ले-जाता है। परन्तु इन संस्कारों को ज्ञान में परिवर्तित करने का काम विज्ञानमय कोश का है। संस्कार स्थूल शरीर पर पड़ते हैं तो बाहर ही रह जाते हैं। विज्ञानमय उन संस्कारों से ज्ञान ले लेता है जो बिना संस्कारों से भी विद्यमान रह सकता है। हमने गत अध्यायों में जो समानान्तरवाद और प्रतिक्रियावादरूपी मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों का वर्णन किया था, उस सम्बन्ध में पाठकों को याद होगा कि

बहुत-से मानसिक व्यापारों की मस्तिष्क की गतियों से अनुकूलता नहीं मिलती। मस्तिष्क की गतियाँ स्थूल शरीर के व्यापार हैं। मानसिक व्यापार मस्तिष्क की गतियों के अतिरिक्त उनसे बढ़-चढ़कर कुछ व्यापार है जिनकी अनुकूलता मस्तिष्क-व्यापारों में मिलना असम्भव है। जो मनोवैज्ञानिक व्यापारों की व्याख्या करना चाहते हैं उनके मार्ग में बहुत-से संकट हैं। वस्तुत: वे असम्भव बातों को सम्भव बनाना चाहते हैं। विज्ञानमय कोश के व्यापार ही इस समस्या को हल कर सकते हैं। विज्ञानमय कोश की जाँच वैज्ञानिक प्रयोगशालाओं में नहीं हो सकती। जितने यन्त्र बनेंगे चाहे वे कितने सूक्ष्म क्यों न हों, सब स्थूल जगत् से सम्बन्ध रक्खेंगे, इसलिए उनसे विज्ञानमय कोश का कुछ भी पता नहीं लग सकता। विज्ञानमय कोश स्थूल भूतों का बना हुआ है ही नहीं। परन्तु विज्ञानमय कोश के व्यापार स्मृति तथा स्वप्न की अवस्था में तो स्पष्ट ही दीखते हैं, ज्ञान-सम्बन्धी अन्य व्यापारों में भी हमें इनका संकेत मिलता है।

आनन्दमय कोश सबसे भीतरी कोश है। इसको कारण शरीर ही कहना चाहिए। यह सब जीवों का एक-सा है। जाग्रत् और स्वप्न में इनमें कोई भेद नहीं होता। जो शरीर या परिस्थितियाँ एक प्राणी और दूसरे प्राणी के बीच में भेद डालती थीं, वे दूर हो जाती हैं। आनन्दमय कोश वस्तुत: मनोमय कोश नहीं है। मनोमय में सुख-दु:ख दोनों होते हैं; आनन्दमय में न सुख होता है न दु:ख। इनसे भिन्न एक अनिवर्चनीय अवस्था होती है जिसको आनन्द कह सकते हैं। इस अवस्था का अनुभव तो हम सबको नित्यप्रति होता है, परन्तु जब हम सुषुप्ति से जाग्रत्-अवस्था में आ जाते हैं तो हमारे पास उसको स्मरण करने अथवा उसको वापस ले आने या उसकी व्याख्या करने की सामग्री विद्यमान नहीं होती।

यहाँ एक प्रश्न उठता है कि सूक्ष्म शरीर प्राकृतिक और जड़ है अथवा चेतन? इसका उत्तर यह है कि सूक्ष्म शरीर है तो जड़

और प्राकृतिक, परन्तु उस अर्थ में नहीं जिसमें आजकल प्राकृतिक वस्तुएँ समझी जाती हैं। इसको समझने के लिए उस क्रम पर विचार करना होगा जिसके अनुसार प्रकृति से जगत् बनता है। जब प्रकृति किसी विकार को प्राप्त नहीं होती और सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण का भेद उत्पन्न नहीं होता, उस समय उसको प्रकृति या प्रधान कहते हैं। इसी को सांख्य ने सत्, रज और तम की साम्य अवस्था कहा है। साम्य अवस्था का अर्थ है वह अवस्था जिसमें किसी प्रकार की विषमता न पाई जाए। कुम्हार मिट्टी से घड़े, शकोरे आदि बनाता है। ये भिन्न-भिन्न होते हैं, अर्थात् इनमें विषमता होती है। शकोरा घड़ा नहीं और घड़ा शकोरा नहीं है। परन्तु जिस समय यह सब मिट्टीरूप कारण की अवस्था में थे, उस समय यह कहना चाहिए कि घड़े-शकोरे आदि की साम्य अवस्था थी। कारण-अवस्था ही साम्य-अवस्था है। जिस सोने से कड़ा, अँगूठी आदि बनते हैं वह अपने प्राकृतिक या मौलिक रूप में कड़े, अँगूठी आदि की साम्य-अवस्था है, जब विकार उत्पन्न होगा तो विषमता आ जायेगी। यही जगत् के बनने का अर्थ है। सांख्य ने प्रकृति को सत्, रज, तम की साम्यावस्था इसलिए कहा है कि प्रकृति के लक्षण उन शब्दों द्वारा करते थे जो विकृत जगत् से सम्बन्ध रखते हैं। भौतिक प्राकृत-अवस्था में तो कई शब्द होते नहीं। सब शब्द विकृत-अवस्था के हैं। अतः साम्यावस्था कहकर लक्षण करने पड़े।

अच्छा, जब विकार आरम्भ हुआ तो स्थूल जगत् के बनने के पूर्व तन्मात्राएँ बनेंगी। ये तन्मात्राएँ स्थूल तत्त्व नहीं हैं और न वैज्ञानिक यंत्रों से जानी जा सकती हैं। जब पहले तन्मात्राएँ बन जाती हैं तो उन्हीं का घनीभूत भाग स्थूल तत्त्व होता है जिनको पृथिवी, जल, अग्नि आदि तत्त्वों के नाम से पुकारा जाता है। यहाँ सृष्टि-क्रम का प्रसंग नहीं है, अतः इसपर अधिक विचार किया जा सकता है। इतना तो स्पष्ट है कि मौलिक प्रकृति से स्थूल जगत् तक आने में एक सूक्ष्म-अवस्था से गुज़रना पड़ता है। यह बात

एक प्रकार से समझ में आ सकती है। इस स्थूल जगत् में भी अत्यन्त सूक्ष्म से लेकर अत्यन्त स्थूल तक भिन्न-भिन्न श्रेणियाँ हैं। सभी चीज़ों की स्थूलता बराबर तो है नहीं। जिस प्रकार इस स्थूल जगत् में बहुत बड़ा तारतम्य है, उसी प्रकार स्थूल जगत् के अत्यन्त सूक्ष्म भाग से भी सूक्ष्म तत्त्व है जिसके बनाने के पीछे स्थूल जगत् बनता है। हमारा सूक्ष्म शरीर इन्हीं सूक्ष्म तत्त्वों का बना हुआ है और कारण शरीर प्रकृति का मौलिक रूप है।

यहाँ एक प्रश्न हो सकता है—जब प्रकृति की मौलिक अवस्था इस समय है नहीं तो कारण शरीर कहाँ से आया? कारण शरीर को तो प्रलय की अवस्था में ही होना चाहिए। जब सोने से आभूषण बन गए तो फिर सोना कहाँ रहा? परन्तु यहाँ एक बात याद रखनी चाहिये—सोने की उपमा एक विषमता है जिसके कारण यह भ्रम पैदा हो जाता है। जब सुनार सोने से ज़ेवर बनाता है तो सोना शेष नहीं रहता; परन्तु प्रकृति से सृष्टि उसी प्रकार नहीं बनती, किन्तु शनैः-शनैः घनी होती जाती है। प्रकृति अनन्त और विकृत जगत् सान्त होने के कारण प्रकृति उस विकृत जगत् की तह में भी व्यापक रहती है। इसी प्रकार सूक्ष्म तत्त्व घने होकर स्थूल तत्त्वों में उपस्थित रहते हैं। इसके लिए मुझे ठीक-ठीक उपमा नहीं मिल सकी। हाँ, एक उदाहरण से कुछ-कुछ काम निकल आता है। जब मट्ठे को बिलोते हैं तो घी की फुटकें तैरती हुई दिखाई देती हैं। ये फुटकें मट्ठे का घनीभूत भाग हैं, परन्तु मट्ठा इनके भीतर विद्यमान रहता है। जब उस सबको आग पर तपाइये तो घी की फुटकें फिर मट्ठे के रूप में बदल जाती हैं और घनीकरण और अघनीकरण का व्यापार निरन्तर जारी रहता है। इसी प्रकार स्थूल शरीर स्थूल भूतों का बना हुआ है और इसके भीतर होता है सूक्ष्म शरीर सूक्ष्म तत्त्वों का, तथा शरीर मौलिक प्रकृति का।

कुछ लोगों ने यह कल्पना कर ली है कि जिस प्रकार स्थूल जगत् में स्थूल सूर्य, स्थूल चन्द्र, स्थूल पहाड़, स्थूल नदियाँ इत्यादि

हैं इसी प्रकार इस स्थूल जगत् के भीतर एक सूक्ष्म जगत् है जिसमें सूक्ष्म सूर्य, सूक्ष्म चन्द्र, सूक्ष्म पहाड़ और सूक्ष्म नदियाँ आदि हैं। इस कल्पना ने लोगों को बहुत-से विचित्र सिद्धान्तों को गढ़ने में सहायता दी है, परन्तु हम इन लोगों से सहमत नहीं हैं। वस्तुतः पहाड़, नदी, सूर्य आदि पदार्थ तो तभी बनते हैं जब सूक्ष्म तत्त्वों से स्थूल तत्त्व बन जाते हैं। स्थूल जगत् के समानान्तर सूक्ष्म जगत् नहीं है जिसमें कमरे के स्थानों में कमरा, चारपाई के स्थान में चारपाई, कुर्सी के स्थानों में कुर्सी आदि हो। यदि सूक्ष्म तत्त्वों से जगत् की सब वस्तुएँ बन सकतीं तो स्थूल तत्त्वों तथा उनके द्वारा स्थूल जगत् के बनाने की क्या आवश्यकता होती? मेरे विचार से तो कुछ लोगों ने ये कल्पनाएँ जादूगरों के गपोड़ों को सिद्ध करने के लिए की हैं। जो अपने-आप जादूगरी करते हैं वे जानते हैं कि जादूगरी केवल चालाकी का नाम है और इन चालाकियों को सैकड़ों बार पकड़ा जा चुका है। अन्य चमत्कारों का भी यही हाल है।

□

अध्याय १९

जन्म से पूर्व और मृत्यु से पीछे

जन्म क्या है ? जीवात्मा का शरीर धारण करना। मृत्यु क्या है ? जीवात्मा का शरीर को छोड़ना। यहाँ शरीर से किस शरीर का तात्पर्य है क्योंकि शरीर तो तीन हैं ?

कारण शरीर तो कारण शरीर ही है। यह जीवात्मा के साथ एकरस विद्यमान रहता है। प्रकृति अनन्त और व्यापक है, अतः जीव भी उस प्राकृतिक, मौलिक या कारण शरीर से कभी पृथक् नहीं हो सकता।

परन्तु शेष दो शरीर कार्य शरीर हैं। वे बनते-बिगड़ते रहते हैं। उनमें परिवर्तन हुआ करता है। जीव इन्हीं शरीरों द्वारा अपने तीन गुण अर्थात् कर्तृत्व, भोक्तृत्व और ज्ञातृत्व का विकास किया करता है। यह शरीर इस विकास का साधनरूप है। यही शरीर जीव के व्यापार के लिए क्षेत्र है।

जीवात्मा शरीर में कब और कैसे आता है ? यह प्रश्न बहुधा किया जाता है। इस प्रश्न का आधार एक भ्रम है। यदि यह भ्रम दूर हो जाए तो लोग इस प्रश्न को पूछना भी बन्द कर दें। लोग समझते हैं कि पहले जिस प्रकार मकान तैयार हो जाता है और पीछे से रहनेवाले उसमें घुस बैठते हैं, उसी प्रकार पहले शरीर तैयार हो जाता है और पीछे से जीवात्मा उसमें प्रवेश कर लेता है। यह बड़ी भारी भूल है। जीवात्मा बने-बनाये शरीर में नहीं घुसता, अपितु वह शरीर को बनाता है।

इसको दृष्टान्त से समझ सकते हैं। एक चालीस वर्ष के

नौजवान हृष्ट-पुष्ट-पुरुष के शरीर की ओर देखो। यह शरीर साढ़े पाँच फुट के लगभग लम्बा और डेढ़ मन के लगभग भारी है। अगर उससे पूछो कि अड़तीस वर्ष पहले जब तुम दो वर्ष के थे, उस समय तुम्हारा यह शरीर कितना बड़ा था? वह अनुमान से बताएगा कि उस समय उसका शरीर तीन फुट से कम और पाँच-छः सेर का था। आप अब उससे पूछिये कि यह इतना बड़ा शरीर तुमने कब बनाया और उसमें कब आये? तो वह इस प्रश्न पर हँसेगा, क्योंकि वह इस शरीर को बनाने के पश्चात् इसमें नहीं आया, अपितु पुराना छोटा-सा शरीर बढ़कर इतना बड़ा हो गया है। बस जो हाल इस चौड़े-चकले शरीर का है, वही उस शरीर का भी था जिसको दो वर्ष का कहते थे। यह शरीर उस शरीर का बढ़ा हुआ रूप है जो माँ के पेट से निकला था। माँ के पेट में जो शरीर बना, वह उस बहुत ही छोटे शरीर का बढ़ा हुआ रूप था जो पिता के शरीर से माता के गर्भ में आया। पिता के शरीर में जो अतिसूक्ष्म शरीर था, वह भी किसी दूसरे अतिसूक्ष्म रूप का विकसित रूप था जिसको इन्द्रियों तथा इन्द्रियों के उपकरणों से अगोचर और अग्राह्य समझना चाहिये।

इस प्रकार एक बात तो स्पष्ट हो गई—जिसको हम जन्म कहते हैं वह केवल उस दशा का नाम है जब हम अपनी माता के गर्भ से बाहर आते हैं। वस्तुतः हमारा उस समय का शरीर बहुत पूर्व से बनने लगता है और हम निरन्तर उसमें रहते चले आते हैं। वह हमारे जीवन का आरम्भ कदापि नहीं; वह केवल एक अवस्था का आरम्भ है।

अच्छा, यह शरीर कब बनना आरम्भ हुआ?

ऐतरेय उपनिषद् के दूसरे अध्याय में इस प्रकार कथन किया है—

पुरुषे ह वा अयमादितो गर्भो भवति यदेतद्रेतः। तदेतत् सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यस्तेजः संभूतमात्मन्येवात्मानं बिभर्ति। तद् यदा स्त्रियां सिञ्चत्यथैनञ्जनयति तदस्य प्रथमं जन्म।

'पहले यह गर्भ पुरुष के शरीर में होता है, जो वीर्य के रूप में होता है। यह वीर्य सब अंगों से खिचकर बना है। पुरुष इस शरीर को अपने शरीर में रखता है। फिर जब वह इसका सिंचन स्त्री के गर्भ में करता है तो वह उसका पहला जन्म कहलाता है।'

पुरुष अर्थात् पिता के शरीर में आने से पूर्व यह शरीर किस रूप में था? उस समय यह सूक्ष्म शरीर था। यह सूक्ष्म शरीर प्राणमय कोश, मनोमय कोश और विज्ञानमय कोश के साथ था। उसके भीतर वे सब शक्तियाँ विद्यमान थीं जिनके द्वारा वह अपना विकास कर सकता था। जब यह सूक्ष्म शरीर पिता के गर्भ में आया तो उसने पिता के समस्त शरीर से उसी प्रकार अपना भोजन खींचना आरम्भ किया जैसे चने का बीज खेत में पहुँचकर खेत में उपस्थित खाद्य पदार्थों को खींचकर अपने शरीर के रूप में परिवर्तित करने लगता है।

यह विकास केवल शारीरिक ही नहीं होता, मानसिक भी होता है। पिता जो भोजन करता है, उससे वह न केवल अपना शरीर ही बनाता है अपितु उस सूक्ष्म शरीर के लिए भी भोजन पहुँचता है जो कि गर्भ के रूप में उसके शरीर में विकसित हो रहा है। इसी प्रकार पिता जो ज्ञान प्राप्त करता है, या जो वासनाएँ (इच्छा, द्वेष, मद, लोभ) आदि बनाता है, उन वासनाओं के के संस्कार भी यह सूक्ष्म शरीर ग्रहण करता है। यहाँ दो प्रकार के व्यापारों का मिश्रण होता है—एक, सूक्ष्म शरीर में स्वयं बाहर के पदार्थों को खींचकर अपने में मिलाने की शक्ति है; दूसरे, बाहर की क्रियाओं का प्रभाव उसपर पड़ता है। चने के बीज में यह शक्ति है कि खेत में से चुन-चुनकर अपने अनुकूल पदार्थों को खींच ले। परन्तु, यदि खेत में खाद नहीं है या चने के अनुकूल पदार्थ कम हैं तो चने का बीज किसको खींचेगा? इसी प्रकार यह माना कि सूक्ष्म शरीर पहले से कुछ शक्तियाँ लाया था, परन्तु पिता जैसे विचार रक्खेगा, जैसा भोजन करेगा, जैसी शारीरिक या मानसिक सामग्री सम्पादित करेगा, उसी के अनुसार तो इस शरीर का

विकास होगा। पिता के प्राणमय कोश से सूक्ष्म शरीर अपने प्राणमय कोश की वृद्धि करेगा, मनोमय कोश से मनोमय कोश की, और विज्ञानमय कोश से विज्ञानमय कोश की। जब एक निश्चित मात्रा में विकास हो चुकेगा तो पिता इस शरीर को माता के शरीर में पहुँचा देगा जिससे वहाँ अधिक वृद्धि हो सके।

जो सूक्ष्म शरीर माता के गर्भ में आया, वह केवल सूक्ष्म शरीर नहीं है। पहले पिता के गर्भ में अन्नमय कोश बनना आरम्भ हुआ और जब माता के गर्भ में आया तो यह स्थूल शरीर इतना बढ़ गया कि उसको उपकरणों द्वारा देख सकते थे। माता के गर्भाशय में भी उसने वही काम जारी रक्खा, अर्थात् माता के भिन्न-भिन्न कोशों से अपने लिए शारीरिक तथा मानसिक भोजन लेना और अपने भीतर पचाकर अपना विकास करना। इस विकास को डॉक्टर लोग भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में देख सकते हैं और जब बच्चा माँ के पेट से बाहर आता है तब तो सभी देखते हैं। अब भी उसका व्यापार यही होता है, अर्थात् घर में जो मानसिक, सामाजिक तथा शारीरिक सामग्री हो उसमें से अपने अनुकूल भोजन खींचकर अपना विकास करे। रोटी खाना, पानी पीना, कपड़े पहनना, भाषा बोलना, आदतें सीखना, ये सब उसी प्रकार के व्यापार हैं। भेद केवल इतना है कि स्थूल होने के कारण सभी देख सकते हैं, पहले किसी को दिखाई नहीं पड़ते थे। बच्चा अपने परिवार या समाज से आदतें किस प्रकार सीखता है, यह तो अब भी सबको स्पष्ट नहीं होता। केवल विलक्षण पुरुष ही जान सकते हैं।

अब यहाँ प्रश्न उठता है कि जन्म से पहले जीवात्मा कहाँ था? इस विषय में भिन्न-भिन्न लोगों के भिन्न-भिन्न मत हैं। कुछ लोग जीवात्मा को अनादि नहीं मानते। उनके मत में जीवात्मा उत्पन्न होता है। कब और किससे? इस विषय में वे स्पष्ट नहीं हैं। कुछ लोग समझते हैं कि जीवात्मा की उत्पत्ति पिता या माता के शरीर में होती है। शायद माता के शरीर में कहना अधिक उपयुक्त

होगा। परन्तु इस मत में कई दोष हैं। शरीर में उत्पत्ति शरीर की ही हो सकती है। हम आरम्भ से यह दिखलाते चले आए हैं कि जीवात्मा शरीर नहीं है, किन्तु शरीर से अलग एक चेतन अभौतिक पदार्थ है जिसमें कर्तृत्व, भोक्तृत्व और ज्ञातृत्व के लक्षण पाए जाते हैं। शरीर इन लक्षणों के प्रकाश का उपकरण मात्र है। माता-पिता के जीवात्माओं में भी ये तीनों लक्षण अलग-अलग पाये जाते हैं। उनके जीवात्मा उनके शरीरों के भीतर तो हैं, परन्तु शरीरों से भिन्न चेतन पदार्थ हैं जिनके द्वारा शरीरों में चेतना आती है। यदि वह जीवात्मा माता-पिता के या किसी एक के शरीर में से उत्पन्न होते तो जड़ होते, उनमें चेतनता कहाँ से आती? यदि माता-पिता के शरीर किसी चेतन जीवात्मा को उत्पन्न कर दें तो फिर माता-पिता के जीवों के स्वयं अलग मानने की क्या आवश्यकता रहे? जो शरीर पुत्र के ज्ञातृत्व, कर्त्तृत्व और भोक्तृत्व के कारण हो सकते हैं, वही अपने ज्ञातृत्व, कर्त्तृत्व, और भोक्तृत्व के कारण क्यों नहीं हो सकते? इसलिए माता या पिता के शरीर में पुत्र के जीवात्मा की उत्पत्ति मानना किसी प्रकार समीचीन नहीं है।

इसके अतिरिक्त एक और बात है। सन्तान के स्वभाव बहुधा अपने माता-पिता के स्वभावों से मिलते-जुलते हैं, परन्तु सम्पूर्ण नहीं। उनमें सन्तान का व्यक्तित्व (Individuality) भी उपस्थित रहती है। यह आवश्यक नहीं है कि यदि पुत्र बड़ा गणितज्ञ है तो पिता भी बड़ा गणितज्ञ हो, या पिता गायक हो तो पुत्र भी गायक ही हो। इस व्यक्तित्व के अनेक दृष्टान्तों से मनुष्य-समाज का इतिहास भरा पड़ा है। माता-पिता के शरीर से जीवात्मा की उत्पत्ति मानी जाय तो इन विशेषताओं की व्याख्या हो ही नहीं सकती। आप फिर उस पुराने दृष्टान्त को लीजिये। चने के पेड़ में वही सब अंश हैं जो चने के खेत में उपस्थित थे, परन्तु चना का चनापन अपना है। उन सब अंशों के रहते हुए भी यदि चना बोया न जाय तो चने का पौधा नहीं उगता। इसी प्रकार यदि माता-

पिता के शरीर में कोई जीव पहले से अपना व्यक्तित्व न लाता तो माता-पिता का शरीर स्वयं उस जीव को उत्पन्न नहीं कर सकता था। यदि जीवात्मा को एक अभौतिक चेतन सत्ता मान लिया जाय, जैसाकि मनुष्य के मस्तिष्क-सम्बन्धी व्यापारों की मीमांसा से प्रकट होता है, तो इसे शरीर से उत्पन्न हुआ नहीं मान सकते। इससे स्पष्ट है कि जीवात्मा का आरम्भ इस जीवन से नहीं होता, अपितु इसकी इस जीवन में पूर्व-विद्यमानता सिद्ध हो जाती है।

एक और वात है। एक ही माता-पिता के दो बच्चों का मानसिक, वैज्ञानिक और शारीरिक विकास भिन्न-भिन्न होता है। वे सब विकास के एक ही तल पर नहीं होते। विकास की यह भिन्नता केवल शारीरिक और सामाजिक परिस्थितियों की भिन्नता द्वारा ही व्याख्यात नहीं हो सकती। इससे स्पष्ट है कि इस विकास को माता-पिता के संसर्ग में आने से वहुत पूर्व तक ले-जाना होगा। यदि आप एक विद्यालय की किसी कक्षा में चार लड़के देखें जिनके व्यक्तित्व भिन्न-भिन्न हों तो पहले आप उस भिन्नता का कारण अवश्य ही विद्यालय की अवस्था में तलाश करना चाहेंगे। परन्तु यदि आप खोजते जायँ तो पता चलेगा कि यह भिन्नता वे विद्यालय में आने से पूर्व कहीं से लाये थे, अन्यथा इतना भेद न होता क्योंकि चारों का पालन-पोषण एक ही प्रकार के वायुमण्डल में हुआ। इसी प्रकार प्रत्येक बच्चा अपने व्यक्तित्व को आरम्भ से ही प्रकाशित कर देता है। एक ही परिस्थिति में पलते हुए भी उनका विकास भिन्न-भिन्न लाइनों पर होता है और आगे चलकर यह भिन्नता और भी स्पष्ट हो जाती है।

एक उदाहरण लीजिये। पीपल और वरगद के छोटे-छोटे वीजों की तुलना कीजिये। वे दोनों भिन्न-भिन्न तो हैं, परन्तु उनमें वहुत बड़ा भेद नहीं है। आकृति में, तोल में, परिमाण में थोड़ा ही अन्तर प्रतीत होगा। उन दोनों वीजों को एक ही खेत में कुछ अलग-अलग बो दीजिये। खेत की भूमि एक-सी है, वायु में जल एक-सा है, ऋतु एक-सी है। परन्तु कुछ वर्षों के पश्चात् एक

पीपल का वृक्ष बन जायेगा और दूसरा बरगद का। पीपल के बड़े वृक्ष और बरगद के बड़े वृक्ष में बहुत बड़ा अन्तर है। यह अन्तर क्यों हुआ ? बीज की भिन्नता के कारण। कहना चाहिये कि भिन्नता उन दोनों के मूल में भी थी, वही बढ़ती गई। यदि आप पीपल और बरगद के वृक्षों को देखें तो स्वभावतः यही कहेंगे कि बीज भिन्न-भिन्न रहे होंगे, तभी तो वृक्ष भिन्न-भिन्न हो गये। कल्पना कीजिए कि एक माली आपसे कहता है कि मैंने तो एक-से ही बीज बोये थे, मैं नहीं जानता कि ये दो वृक्ष इतने भिन्न क्यों हो गये, तो क्या आप उस माली का विश्वास करेंगे ? क्या आप न कहेंगे कि तुम भूलते हो ? अवश्य ही बीजों में कुछ-न-कुछ भेद रहा होगा। बस, यही उदाहरण आप प्राणियों पर घटाइये। जब प्राणियों के जीवन में इतना भेद है तो इसका कारण मौलिक भिन्नता ही हो सकती है। इस भिन्नता को जन्म के पश्चात् तलाश करना भूल है। इसको तो जन्म से पहले ही मानना पड़ेगा।

यहाँ हमने यह दिखाने का यत्न किया है कि शारीरिक जीवन का आरम्भ जीवात्मा का आरम्भ नहीं है।

अब थोड़ा-सा मृत्यु के पश्चात् की दशा पर भी विचार आवश्यक है। एक प्रकार से तो प्रतिक्षण मृत्यु होती रहती है, क्योंकि हमारे प्यारे शरीर का कोई-न-कोई अंश हमसे अलग होता रहता है। हम साँस लेते हैं तो भीतर की वायु निकलकर बाहर जाती है। पसीने, मल आदि द्वारा शरीर का बहुत-सा भाग निकला करता है। बाल, नाखुन आदि को हम स्वयं काटकर फेंक देते हैं। थोड़े दिनों में हमारे शरीर के सभी परमाणु बिल्कुल बदल जाते हैं और पुराना एक परमाणु भी शेष नहीं रह जाता। तथापि, ये सब परिवर्तन इतने शनैः-शनैः होते हैं कि आपको इनका अनुमान नहीं होता और न आप इसको अपने शरीर का वियोग ही मानते हैं। हम नित्यप्रति देखते हैं कि एक समय समस्त शरीर पड़ा रह जाता है। इसको मृत्यु कहते हैं। पहले तो शरीर के परमाणु बारी-बारी से निकल रहे थे और उनके स्थान पर दूसरे परमाणु आ रहे थे।

यदि हमने साँस द्वारा वायु को बाहर फेंका तो उसी के स्थान में दूसरे वायु को भीतर भी खींचा। जहाँ गर्मियों में सेरों पसीना हमारे शरीर से निकल गया, वहाँ ढेरों पानी हम पी भी गये। इस प्रकार लेखा-जोखा बराबर होता रहा। परन्तु जिसको साधारण बोलचाल में मृत्यु कहते हैं उसमें शरीर के सभी परमाणुओं ने सन्धि करके एक ही क्षण में हमको छोड़ दिया। अब यह शरीर उसी प्रकार से आदान-प्रदान का व्यापार नहीं करता जैसे पहले करता था। न साँस लेता है, न पानी पीता है, न भोजन करता है। इसके अवयव स्वयं ही सड़ने लगते हैं।

यहाँ प्रश्न यह होता है कि क्या शरीर के बिगड़ते ही जीवात्मा भी नष्ट हो जाता है या जीवात्मा शरीर को छोड़कर बाहर चला जाता है? साधारण जनता के विचार में मृत्यु इसी का नाम है कि जीवात्मा शरीर से निकलकर कहीं चला जाय, परन्तु दार्शनिकों में इस विषय पर मतभेद है। जिन्होंने शरीर के भिन्न-भिन्न अवयवों के यांत्रिक संगठन (mechanism) को ही जीवात्मा माना हुआ है, उनके मत में तो संगठन के टूटने का नाम ही मृत्यु है और संगठन के टूटते ही जीव का नाश हो जाना चाहिये। घड़ी एक मशीन है। उस मशीन के भिन्न-भिन्न अवयवों का एक प्रकार से चलना ही घड़ी का जीवन है। जबतक मशीन ठीक है, घड़ी की सुइयाँ चल रही हैं। यन्त्र के बिगड़ते ही घड़ी भी मर जाती है। इसका यह अर्थ नहीं कि असली घड़ी इस मशीन को छोड़कर कहीं चली गई। वस्तुतः मशीन के बिगड़ते ही घड़ी का सर्वनाश हो गया। इसी प्रकार यदि शरीर केवल एक मशीन है और उसके अंगों का यांत्रिक संगठन ही जीवन उत्पन्न कर देता है तो मृत्यु के पश्चात् जीवात्मा का अस्तित्व मानना भूल होगी। फिर तो प्राचीन चार्वाकों का यही मत ठीक होगा कि—

भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः।

अर्थात्—जो देह जल गई वह फिर कहाँ से आवेगी? मृत्यु के साथ ही हमारा अन्त हो जायेगा।

परन्तु यदि यह बात सच है तो वड़े दु:ख की बात है। हम आयुभर जीने का प्रयत्न करते रहे और जीवन एक ही झटके में समाप्त ! जीवन की पहेली साधारण पहेली नहीं है। इसकी विचित्रता पर तो विचार कीजिये ! मनुष्य जीने के लिए क्या-कुछ नहीं करता ! ज़रा मानवी संस्थाओं पर तो विचार कीजिये ! असभ्य, अर्द्धसभ्य और सभ्य देशों व जातियों के घोर प्रयत्नों पर दृष्टि डालिये ! सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक संस्थाओं को देखिये ! कैसा विस्तृत जाल फैला हुआ है ! हमारी समस्त शक्तियाँ इन संस्थाओं की संपुष्टि के लिए काम आ रही हैं। मनुष्य इन सब कामों में ऐसा संलग्न है कि उसको अपनी ओर देखने की भी फुर्सत नहीं है। काम बहुत पड़ा है। जीविका कमानी है। घर-बार को देखना है। देश और जाति का विचार करना है। खेलना-कूदना और सैर करना है। मुझे अवकाश कहाँ कि आत्म-निरीक्षण जैसी बात के लिए समय निकाल सकूँ ?

यदि इस सब मिश्रित जीवन का यही अन्त होना है कि हम न रहेंगे तो इतने बड़े खेल पर हँसी और खेद दोनों होते हैं। एक ओर तो विशाल सृष्टि जिसमें मनुष्य के प्रयत्न का भी कुछ कम हाथ नहीं है, दूसरी ओर ऐसा भयानक अन्त कि हम स्वयं न रहेंगे ! इसका विचार करते ही हृदय काँपता है और कुछ काम करने को जी नहीं चाहता। परन्तु मेरे अन्तरात्मा से एक आवाज़ आती है—

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः
नैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥

(गीता २।२३)

अर्थात्—इस आत्मा को कोई शस्त्र छेद नहीं सकता, कोई आग जला नहीं सकती, कोई जल गला नहीं सकता और न कोई वायु सुखा सकती है।

गीता की यह आवाज़ केवल श्रीकृष्ण की आवाज़ नहीं है। प्रत्येक प्राणी के भीतर से यही आवाज निकलती है कि मृत्यु मेरा

अन्त नहीं है। यह केवल मेरे शरीर का अन्त है। मैं उस समय भी रहूँगा जब यह नष्ट हो जायेगा। न मैं शरीर के साथ उत्पन्न हुआ, न मैं शरीर के साथ समाप्त हो जाऊँगा। मेरी आयु शरीर की आयु से कहीं अधिक है।

परन्तु यह तो हुई सर्वसाधारण की धारणा। दार्शनिक लोग क्या कहते हैं और दर्शनशास्त्र को क्या कहना चाहिये? यदि कर्तृत्व, भोक्तृत्व और ज्ञातृत्व भौतिक शरीर के अवयवों से उत्पन्न नहीं होते तो भौतिक शरीर के साथ इनकी समाप्ति होनी चाहिये। व्यास मुनि के वेदान्तदर्शन के ये दो सूत्र यही बात बताते हैं।—

चराचरव्यपाश्रयस्तु स्यात् तद्व्यपदेशो
भाक्तस्तद्भावभावित्वात् ॥ (२।३।१६)

अर्थात्—चराचर भूतों में जो जन्म-मरण का व्यवहार देखा जाता है वह जीव के सम्बन्ध में मुख्य नहीं, किन्तु गौण है। अमुक मर गया और अमुक उत्पन्न हो गया, यह भाक्त अर्थात् उपचार की भाषा है। (तद्भावभावित्वात्) क्योंकि शरीर के साथ होने से शरीर का भाव आत्मा में भी आ जाता है और जो भाषा शरीर से सम्बन्ध रखती है उसी का प्रयोग आत्मा के लिए भी करना पड़ता है।

नात्माऽश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः ॥
(२।३।१७)

आत्मा मरता या उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि कोई श्रुति ऐसा नहीं बताती। श्रुतियों में तो आत्मा का नित्य होना प्रतिपादित किया गया है—

न जायते म्रियते वा विपश्चित्
नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो-
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥
(कठोपनिषद् २।१८)

'न वह उत्पन्न होता है, न मरता है। न वह किसी वस्तु का

परिवर्तित रूप है और न उसे बदलकर कोई और चीज़ बन जाती है। यह अजन्मा है, नित्य है। सदा रहनेवाला और पुराना है। शरीर के नाश होने पर उसका नाश नहीं होता।'

जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते न जीवो म्रियते।

(छान्दोग्य ६।११।३)

'जीव नहीं मरता। जब जीव शरीर से निकल जाता है तो यह शरीर मर जाता है।'

याज्ञवल्क्य मैत्रेयी से कहते हैं—

'न वा अरेऽहं मोहं ब्रवीम्यविनाशी वा अरेऽयमात्माऽनुच्छित्तिधर्मा'।।

(बृहदारण्यकोपनिषत् ४।५।१४)

'अरे! मैं व्यर्थ बात नहीं कहता। यह आत्मा अविनाशी है। उसका खण्डन नहीं हो सकता।'

अखण्ड वस्तु अविनाशी ही हो सकती है। मानवी मस्तिष्क में 'विनाश' शब्द का जो भाव विद्यमान है उसका विश्लेषण करने से पता चलता है कि विनाश का अर्थ है खण्ड-खण्ड हो जाना। जो वस्तु अखण्ड है वह खण्ड-खण्ड होगी कैसे? यदि अखण्ड और अविनाशी है तो मृत्यु के पश्चात् भी इसका अस्तित्व मानना ही पड़ेगा। स्थूल शरीर के विनाश से आत्मा का विनाश न होना चाहिये।

□

अध्याय २०

जीवन की प्रयोजनवत्ता

'जीवन से पूर्व और जीवन से पीछे जीवात्मा का अस्तित्व रहता है या नहीं' इस विषय पर एक और दृष्टि से विचार कर सकते हैं।

जब से डार्विन ने विकासवाद का भवन निर्माण करना आरम्भ किया, तब से दार्शनिक और वैज्ञानिक जगत् में एक बात पर बड़ी ऊहापोह हो रही है और वह है जीवन की प्रयोजनवत्ता। आप विकासवाद को मानें या न मानें, वा उसके कुछ सिद्धान्तों से सहमत हों या अन्य सिद्धान्तों के विरुद्ध, कम-से-कम एक बात आपको माननी पड़ेगी और वह यह कि जीवन की सम्पूर्ण क्रियाएँ, चाहे वे मानसिक हों चाहे शारीरिक, किसी-न-किसी प्रयोजन को अवश्य सिद्ध करती हैं। कोई छोटी-से-छोटी चीज़ और छोटी-से-छोटी गति भी प्रयोजनशून्य नहीं है।

जीवन क्या वस्तु है? जब से हम उत्पन्न होते हैं और जबतक हम मरते हैं, भिन्न-भिन्न प्रकार की क्रियाएँ किया करते हैं। 'हम' से हमारा तात्पर्य हमारे शरीर के प्रत्येक अवयव तथा मन से है। उत्पन्न होते ही हम रो पड़े। रोना क्या है? एक प्रकार की भीतरी प्रेरणा हुई जिससे हमारा मुंह खुल गया और उसमें से एक विशेष प्रकार का शब्द निकलने लगा। यह 'भीतर की प्रेरणा' भी एक क्रिया ही नहीं, अनेक क्रियाओं का समूह है, क्योंकि जिसको हम 'भीतर' कहते हैं वह कोई एक चीज़ नहीं है, किन्तु अवयवों की फ़ौज है। इन सबने जब एक विशेष क्रिया की तो

हमने उसका नाम 'भीतरी प्रेरणा' रक्खा। अब आप सोचिये कि बच्चा क्यों रोता है ? कभी-कभी माताएँ झुँझलाकर कह बैठती हैं कि यह व्यर्थ रो रहा है, अर्थात् उसके रोने का कोई कारण नहीं है और यह सम्भव था या उसके वश में था कि वह न रोता, परन्तु यह मनुष्य की निर्बलता है। यह उसकी ऊपरी दृष्टि है। बच्चे का रोना प्रयोजनशून्य तो नहीं है। जिन विकासवादियों ने 'स्वभाव' का विश्लेषण किया है, वे भली-भाँति जानते हैं कि यदि बच्चा न रोता तो शरीर की वृद्धि में बाधा पड़ती। शरीर के समस्त अङ्गों का सामूहिक व्यापार, जिसको 'रोना' कहते हैं, शरीर के विकास में एक मुख्य स्थान रखता है। विकास का अर्थ ही यह है कि शरीर के अवयव निष्प्रयोजन नहीं हैं। उनके अपने धर्म हैं और ये धर्म अन्य धर्मों के आधारभूत हैं। बच्चे के शरीर में बहुत-से अवयवों का अभाव होता है। ये अवयव पीछे से उत्पन्न होते हैं जैसे दाँत इत्यादि, परन्तु इन अवयवों का अत्यन्ताभाव नहीं होता, प्रागभाव होता है और प्रागभाव का अर्थ ही यह है कि बीजरूप उनका भाव विद्यमान है। गीता में भी कहा है कि **'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः'** (२।१६) अर्थात् 'न अभाव से भाव उत्पन्न होता है, न भाव से अभाव।' जो अवयव आरम्भ में विद्यमान थे उनमें ही आगे, उत्पन्न होनेवाले अवयवों का बीज भी उपस्थित था अर्थात् प्रयोजन विद्यमान था। यह प्रयोजन ही शरीर में अनेक प्रकार से परिवर्तन करता रहा। भूख-प्यास आदि आवश्यकताएँ, काम-क्रोध-लोभ-मोह आदि व्यसन, इच्छा और द्वेष, शत्रुता और मित्रता, बुराई और भलाई, सुख और दुःख, इन सबका एक प्रयोजन है।

फिर एक बात और विचार कीजिये। जीवन न केवल शारीरिक व्यापार है, न केवल मानसिक, किन्तु इन सबका संयोग ही जीवन है। शरीर का प्रत्येक अवयव एक-दूसरे पर, और शरीर और अन्तःकरण अपनी बारी में एक-दूसरे पर प्रभाव डाला करते हैं। पारस्परिक प्रतिक्रियाएँ सदा हुआ करती हैं। ये क्रियाएँ हमारे भावों को

परिष्कृत करने के लिए हैं। भूख लगती है तो यह एक कोरा शारीरिक व्यापार समझा जाता है, परन्तु वास्तविक बात ऐसी नहीं है। यदि केवल भौतिक शास्त्र की ही दृष्टि से देखा जाय तो भूख की व्याख्या कुछ विशेष धातुओं की कमी से की जा सकती है, अर्थात् अमुक-अमुक धातुएँ शरीर में कम हो गईं और भीतर से माँग आई कि खाना भेजो ! परन्तु यदि केवल इतना ही होता तो उसी प्रकार उन धातुओं को मुँह के भीतर डाल देते जैसे इंजन के भीतर कोयला झोंका जाता है। परन्तु यदि ऐसा ही होता तो पाकशास्त्र के इतने जटिल नियम क्यों बनाये जाते ? आप सोचिये तो सही कि भिन्न-भिन्न जातियों, भिन्न-भिन्न देशों और युगों में भोजन-निर्माण के कैसे-कैसे नियम बनाये गए हैं ! ये जो सहभोज किये जाते हैं जिनमें छहों रसों का विशेष प्रकार से सम्पादन होता है, या जो पाक-विद्या-विशारद स्त्री और पुरुष अपनी पाककला का परिचय देने के लिए प्रतियोगिता-सी करते हैं, ये सब क्यों होते यदि भूख की व्याख्या केवल इंजन की उपमा से की जा सकती ? फिर सृष्टि में जो खाद्य पदार्थ हैं उनमें विशेष रस हैं। इन रसों को चखने के लिए रसना है। रसना न केवल रसों को ही चखती है अपितु भावों के विकास में भी काम करती है।

इस प्रकार शरीर की क्रियाएँ न केवल शरीर के ही अवयवों को बनाने में काम आती हैं, अपितु मानसिक विकास का भी कारण होती हैं। यही हाल मानसिक व्यापारों का है। उनमें भी तारतम्य है, और उन सब व्यापारों का एक सामूहिक प्रयोजन है।

इसका एक मोटा दृष्टान्त लीजिये। एक बड़े भवन पर विचार कीजिये। उसमें बीसियों कमरे हैं। कोई शयनागार, कोई भोजनागार, कोई स्नानागार, कोई स्वागतागार आदि। जब इनका बनना आरम्भ हुआ और कल्पना कीजिये कि भिन्न-भिन्न कमरों के बनाने का काम भिन्न-भिन्न कारीगरों को सौंपा गया तो प्रत्येक कारीगर की दृष्टि में अपना कमरा ही था। उसको दूसरों से कुछ प्रयोजन नहीं था। जब एक-एक ईंट गढ़कर रख रहे थे तो उनकी दृष्टि

अपने कमरे से बाहर न जाती थी। जिसको स्नानागार बनाना था वह यही समझता था कि अमुक स्थान पर जल रखने या नल लगाने का प्रबन्ध करूँ, अमुक स्थान या स्नान करनेवाले के बैठने का, अमुक स्थान पर साबुन-तेल आदि रखने का। परन्तु यदि वह मनुष्य ऐसा स्नानागार बना दे जिसका मेल शेष कमरों से न मिले तो क्या ऐसे कारीगर को बुद्धिमान् कहेंगे? कदापि नहीं। बुद्धिमान् कारीगर अपने विशेष कमरे पर भी दृष्टि रखता है और यह भी जानता है कि मुझे अपने इस कमरे को समस्त भवन से मिलाना भी है। इसी प्रकार शरीर का प्रत्येक अंग अपने निकटतम प्रयोजन को सिद्ध करता हुआ समस्त शरीर के प्रयोजन को भी सिद्ध करता है। नाक का काम इतना ही नहीं है कि सुगन्ध का पता चलाया करे। इस काम के अतिरिक्त इसके द्वारा समस्त शरीर का विकास भी उसका काम है। यदि आँख का काम केवल रूप देखना ही होता तो किसी अन्धे पुरुष के अन्धेपन से उसके शरीर को हानि नहीं पहुँचनी चाहिये थी। क्योंकि जब आँख ही नहीं तो उसका काम भी नहीं, चलो छुट्टी हुई! परन्तु ऐसा नहीं है। इससे स्पष्ट है कि आँख देखती तो है परन्तु इस देखने के व्यापार में समस्त शरीर का प्रयोजन भी अभीष्ट है।

इस प्रकार यदि शरीर के भिन्न-भिन्न अवयवों की क्रियाओं की जाँच की जाय तो ज्ञात होता है कि स्थूल दृष्टि से उन क्रियाओं से शारीरिक विकास ही प्रतीत होता है। आगे चलकर सूक्ष्म विचार करने पर ज्ञात होता है कि प्रत्येक शारीरिक क्रिया मानसिक विकास के लिए है। यहाँ 'मानसिक' शब्द का हम बहुत विस्तृत अर्थ लेते हैं जिसमें वैज्ञानिक, आत्मिक आदि सबका समावेश हो सके। जब शारीरिक विकास बन्द हो जाता है तब मानसिक विकास बन्द नहीं होता, किन्तु जारी रहता है। इसके लिए एक और मोटा उदाहरण लीजिये। बच्चे का छोटा हाथ होता है और इसमें थोड़ी-सी ग्रहण करने की शक्ति होती है।

बच्चा इस हाथ को पालने में ही हिलाने लगता है। इस व्यापार में हाथ बढ़ता है। उसका शारीरिक परिमाण भी बढ़ता है और उसमें पकड़ने की शक्ति भी बढ़ती है। जब वह युवा होता है तो उसका हाथ बहुत बड़ा हो जाता है और उसमें शक्ति भी बहुत आ जाती है, परन्तु अब हाथ का बढ़ना बन्द हो जाता है। यदि हाथ उसी अनुपात से बढ़ता रहता जैसा बचपन में बढ़ा तो चालीस वर्ष के पुरुष का हाथ कई मीटर का होना चाहिये था। इस प्रकार शारीरिक विकास बन्द हो गया, परन्तु मानसिक विकास जारी रहा।

पहले तो मनुष्य ने यह कोशिश की कि चाहे हाथ की लम्बाई-चौड़ाई उतनी ही रहे, लेकिन शक्ति बढ़नी चाहिये। इसके लिए उसने व्यायाम करना आरम्भ किया। यह व्यायाम केवल शारीरिक व्यायाम ही नहीं, मानसिक व्यायाम भी है, क्योंकि मनुष्य सोचता है कि किस प्रकार हाथ में शक्ति आवे। यह सोचने का व्यापार केवल हाथ का व्यापार नहीं किन्तु मन का व्यापार है, या यों कहना चाहिये कि मन, बुद्धि और चित्त तीनों का विकास सम्मिलित है। कल्पना कीजिये कि हाथ बहुत पुष्ट हो गया और उसमें वृक्ष को बीच से चीरने, बड़े-बड़े पत्थर को उठाने या मोटर रोकने की शक्ति आ गई। परन्तु यहाँ इस विकास की इतिश्री नहीं हुई। विकास जारी है। तलवार, कलम, लाठी आदि का प्रयोग इसी विकास का चिह्न है। इससे भी आगे चलकर तार, बेतार संदेश, इत्यादि-इत्यादि उसी विकास का परिष्कृत रूप हैं, अर्थात् मनुष्य चाहता है कि चाहे उसका हाथ छोटा ही रह जाय परन्तु उसमें ग्रहण करने की शक्ति इतनी अधिक होती जाय कि मीलों दूर की चीज़ भी उसकी पकड़ और पहुँच से दूर न रहे।

इससे यह नतीजा निकला कि मनुष्य का शरीर और शरीर का प्रत्येक व्यापार पहले तो शरीर-विकास के लिए और अन्त में मानसिक या आत्मिक विकास के लिए है। इन सबमें प्रयोजनवत्ता

है, प्रयोजन-शून्य कुछ नहीं।

अब इसकी संगति उस प्रश्न से लगाइये कि जन्म से पूर्व और मृत्यु के पीछे जीव रहता है या नहीं? यदि मृत्यु के पीछे जीव न रहे और शारीरिक जीवन के साथ ही जीव का जीवन भी समाप्त हो जाय तो समस्त जीवन-यात्रा का प्रयोजन क्या? और सामाजिक, आर्थिक तथा अन्य प्रकार की अन्यान्य संस्थाओं की क्या उपयोगिता? शरीर की प्रयोजनवत्ता, जिसका हमने इस अध्याय में उल्लेख किया है, यही बताती है कि जीव के विकास के लिए शरीर का विकास है और यदि शरीर का विकास किसी सीमा पर जाकर रुक जाता है तो इसका यह अर्थ नहीं कि जीव का विकास भी रुक गया। शरीर का विकास इसलिए रुकता है कि उसने अपना काम समाप्त कर लिया। मैं यदि मोटर पर बैठकर रेल के स्टेशन पर जाता हूँ और वहाँ मोटर को छोड़ देता हूँ तो इसका इतना ही अर्थ है कि मोटर की यात्रा समाप्त हो गई, मेरी यात्रा जारी है। मोटर की यात्रा मेरे ही लिए थी, परन्तु मोटर का काम समाप्त हो गया। अब मेरी यात्रा के दूसरे साधन होंगे।

प्राय: सभी विकासवादी इतनी दूर तक तो हमसे सहमत हैं कि जीवन के भिन्न-भिन्न रूप किसी प्रयोजन के लिए हैं। परन्तु वे इस प्रयोजन में जीव को घसीटना नहीं चाहते। डार्विन तथा उसके सहकारियों ने अमीबा से लेकर मनुष्य तक सब योनियों का सिलसिला दिया और छोटी योनियों का प्रयोजन यही बताया कि अगली योनि के विकास में सहायता हो। परन्तु, उन्होंने इस बात को स्पष्ट करने की आवश्यकता नहीं समझी कि अगली योनि के विकास से किसका प्रयोजन अभीष्ट है? उनका कहना है कि हम 'जीव' के झगड़े ही में क्यों पड़ें? जीव हो तो भला, परन्तु इससे विकासवाद की उलझनें सुलझती नहीं, बढ़ जाती हैं। यदि एक योनि दूसरी योनि के विकास का कारण या साधन होती है तो प्रश्न यह है कि पहली योनि का पिछली योनि में कितना अंश शेष रहता है? यदि केवल आकृति (Type) ही शेष रह जाती है, और

कुछ नहीं, तो इससे कोई प्रयोजन सिद्ध होता प्रतीत नहीं होता, क्योंकि प्रयोजन (Purpose) शब्द स्वयं ही किसी चेतन सत्ता का द्योतक है। यदि भवन में रहनेवाला कोई चेतन पुरुष नहीं तो भवन का प्रयोजन हो क्या? और यदि एक भवन को देखकर दूसरे भवन की नई आकृति का विकास हुआ भी तो किसके लिए? दूसरी बात यह है कि शारीरिक विकास का अन्तिम ध्येय जो मानसिक विकास है उसका क्या अर्थ?

एक बात और, हम मनुष्यों को भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में मरता पाते हैं। दो मास का बच्चा मरा, छः मास का बालक मरा, बारह वर्ष का लड़का मरा, तीस वर्ष का युवा मरा और साठ वर्ष का बुड्ढा मरा। इन सबका शरीर तो छूट गया। मरते समय ये चरम विकास के धरातल पर तो थे नहीं, किसी का मन अधिक विकसित था और किसी का कम। इस विकास की अगली श्रेणी क्या होगी? क्या विकास की ये मात्राएँ वहीं भिन्न-भिन्न स्टेशनों पर समाप्त हो जायेंगी? इस बात को मानने के लिए न तो कोई प्रमाण है न हृदय इसको स्वीकार करने को तैयार है।

□

अध्याय २१

पुनर्जन्म

गत अध्याय में यह बताया गया है कि शरीर का जन्म और शरीर की मृत्यु जीवात्मा का जन्म और जीवात्मा की मृत्यु नहीं है। जीव शरीर से पहले भी था और शरीर के पीछे भी रहेगा। कुछ लोगों को इस बात के मानने में आपत्ति है। वे कहते हैं कि जब जीवात्मा का गुण ज्ञान है तो ज्ञान बड़ी आयु में होता है, दो दिन के बालक को कुछ भी ज्ञान नहीं होता। ज्ञान की शनैः-शनैः वृद्धि होती है। जब ज्ञान घट सकता है और शरीर के समान मस्तिष्क या मन का भी विकास होता है तो शरीर के समान जीव को भी आदि क्यों न माना जाय और यह क्यों न समझा जाय कि जीवात्मा शरीर में उसी समय आता या पैदा होता है जब ज्ञान होने लगता है?

परन्तु इसमें थोड़ी-सी भूल है। हमने पहले अध्यायों में यह बात स्पष्ट करने का यत्न किया है कि जीव का गुण एकमात्र ज्ञान नहीं है किन्तु ज्ञातृत्व, भोक्तृत्व और कर्त्तृत्व है। ये तीनों गुण एक-दूसरे के साथ इस प्रकार मिले हुए हैं कि कोई केवल अकेला कभी विद्यमान नहीं रहता, अर्थात् मन या अन्तःकरण की कोई अवस्था ऐसी नहीं है जिसको केवल ज्ञान-अवस्था या केवल कर्त्तृ-अवस्था या भोक्तृ-अवस्था कह सकें। यह सम्भव है कि कभी किसी का आविर्भाव हो और किसी का तिरोभाव, परन्तु सर्वथा अभाव किसी का नहीं होता। बच्चा कितना ही छोटा क्यों न हो, उसमें कुछ-न-कुछ ज्ञान अवश्य होता है। विकासवादी वैज्ञानिकों ने यह

सिद्ध करने की कोशिश की है कि नवजात बच्चे के स्वभाव से भी ज्ञात होता है कि वह पिछला कुछ अनुभव लाया है। हेनरी ड्रमंड (Henry Drummond) की पुस्तक 'मनुष्य का उत्थान' (The Ascent of Man) से एक उदाहरण यहाँ अनुपयुक्त न होगा—

"Dr. Robinson has records of upwards of sixty cases in which the children were under a month old, and in at least half of those the experiment was tried within an hour of birth. In very instance, with only two exceptions, the child was able to the hang on to finger or a small stick three quarters of an inch in diameter, by its hands; like an acrobat from a horizontal bar, and sustain the whole weight of its body for at least ten seconds. In twelve cases, in infants under an hour old, half an hour old, half a minute passed before the grasp relaxed, and in three or four nearly a minute. When about four days old, found that the strength had increased, and that nearly all, when tried at this age, could sustain their weight for half a minute."

(p.p.101-102)

"डॉक्टर रॉबिसन ने साठ से ऊपर घटनाओं का उल्लेख किया है जिनमें बच्चे एक महीने से कम आयु के थे। इनमें से कम-से-कम आधों की परीक्षा तो जन्म के एक घण्टे के भीतर ही की गई। केवल दो को छोड़कर अन्य सब बच्चे उँगली के सहारे या पौन इंच मोटी लकड़ी के सहारे अपने सब बोझ को लिये हुए कम-कम-कम दस सैकण्ड तक इस प्रकार लटकते रहे जैसे एक खेलनेवाला हॉरीजण्टल बार पर लटकता है। इनमें से बारह बच्चे, जो एक घण्टे से भी कम आयु के थे, आधे मिनट लटकते रहे और तीन या चार एक मिनट तक। जब चार दिन के लगभग बड़े हुए तो उनकी शक्ति बढ़ गई और ये सब इसी आयु में आधे मिनट तक लटके रह सके।"

इन परीक्षणों से विकासवादी यह नतीजा निकालते हैं कि

बन्दर से जो मनुष्य की उत्पत्ति कही जाती है, उसकी इनसे पुष्टि होती है; बच्चे का लकड़ी या उँगली के सहारे लटकना बन्दरों के वृक्ष पर लटकने का संस्काररूप है। हम यहाँ विकासवाद के सिद्धान्त की सारता पर कुछ कहना नहीं चाहते, परन्तु हम इन परीक्षणों से यह नतीजा निकालते हैं कि बच्चे पुराने संस्कार लाते हैं। ये पुराने संस्कार शरीर के परमाणु नहीं ला सकते। संस्कारों को लाने के लिए तो जीवात्मा ही होना चाहिये, क्योंकि लटकने का स्वभाव, स्मृति या ज्ञान, चाहे प्रकट हो चाहे गुप्त, भौतिक नहीं किन्तु आध्यात्मिक है। इन संस्कारों से जीव के जन्म से पहले का अस्तित्व स्पष्ट हो जाता है।

टी० एच० ग्रीन ने जीव के ज्ञातृत्व के विषय में एक विचित्र बात लिखी है जिससे हमारी धारणा की पुष्टि होती है। उनका आशय यह है कि मनुष्य के अन्तःकरण में जो ज्ञान का परिवर्तन हुआ करता है अर्थात् भिन्न-भिन्न ज्ञान उत्पन्न हुआ करते हैं, इनके अतिरिक्त उसमें एक सामान्य ज्ञान या चेतनाशक्ति है जो अनादि है। वह लिखते हैं—

"What we call our mental history is not a history of this consciousness, which in itself can have no history, but a history of the process by which the animal organism becomes its vehicle."

(**Prologomena of Ethics** by T. H. Green, pp. 74 to 84)

अर्थात्—'जिनको हम अपने मानसिक विकास का इतिहास कहते हैं वह इस सामान्य ज्ञानशक्ति का इतिहास नहीं है, बल्कि उस व्यापार का इतिहास है जिसके द्वारा मनुष्य का भौतिक मस्तिष्क इस सामान्य ज्ञान का, शक्ति का साधन बनता है।'

यहाँ उनकी सब युक्तियाँ दी नहीं जा सकतीं। उनकी पुस्तक के दस पृष्ठ पढ़ने से यह बात भलीभाँति समझ में आ सकती है। उन्होंने एक अच्छा दृष्टान्त दिया है। जब हम किसी पुस्तक को पढ़ते हैं तो ज्यों-ज्यों पढ़ते जाते हैं उसके शब्द-वाक्य आदि का

ज्ञान होता जाता है। इस अर्थ में हमारा ज्ञान बढ़ रहा है। पुस्तक पढ़ना आरम्भ करने से पूर्व हमारे भीतर कुछ ऐसी चेतना थी जो कह रही थी कि पुस्तक का आरम्भ तो करो! यह चेतना पुस्तक का आरम्भ करते समय उत्पन्न नहीं हुई; यह पहले ही उपस्थित थी। इसी प्रकार जब हम सृष्टिरूपी पुस्तक (Book of Nature) का पाठ करने चले तो पहले से ही हमारे भीतर वह चेतना थी कि इसका कुछ अर्थ होगा। यह चेतना उस दिन आरम्भ नहीं हुई जिस दिन हमने आँखें खोलीं और संसार की वस्तुओं को पहचानना आरम्भ किया। चेतना पहले से ही है, यह अनादि है। प्रोफैसर ए० वुल्फ़ (Prof. A. Wolf of London University) ने ग्रीन के इस मत का सारांश इन शब्दों में दिया है—

"Human consciousness, according to Green, is essentially self-conciousness. In the case of man even the simplest process of sense perception is not a mere change; but the consciousness of a change. All human experiences, in short, consist not mere events physical or mental, but of recognition of such events. What we apprehend, therefore, is never a *bare* fact, but a recognised fact, synthesis of relation in a consciousness which involves a *self* as well as elements of the objects apprehended, which it holds together in the unity of the act of perception. Thus knowledge always implies the work of the mind or self. This work of the mind, however, is not capricious or arbitrary. This is attested both by the common distinction between truth and error, between reality and illusion, and by the very existence of the sciences. But all this, according to Green implies that the reality which we know is an intelligible reality, an ideal system, in short, a spiritual world. And such a world can only be explained by reference to a spiritual "Principal which renders all relations possible and is itself determined by none of them," an absolute and enternal self-consciousness, is God. This participation is

the source of morality and religion. It is also the justification of the belief in immortality. For a self-conscious personality connot be supposed to pass away but must partake of the nature of the Eternal."

(**An Outline of Modern Knowledge**, p. 553-544)

'ग्रीन के मत में मानवी चेतनता मुख्यतः आत्म-चेतना है। मनुष्य का छोटे-से-छोटा इन्द्रिय-जन्य ज्ञान भी केवल घटना ही नहीं है, अपितु उस घटना की चेतना है। सारांश यह है कि समस्त मानवी अनुभव न केवल शारीरिक या मानसिक घटनाएँ ही हैं, अपितु उन घटनाओं का संज्ञान है। हम जो-कुछ जानते हैं वह ज्ञान केवल घटना ही नहीं है, किन्तु एक संज्ञात घटना है, अर्थात् चेतना से सम्बन्धित जो स्पष्टीकरण है उससे दो चीज़ों का पता चलता है—एक तो आत्मा, और दूसरे वे पदार्थ जिनका हमको ज्ञान होता है और जिनका वह आत्मा अपने ज्ञान के व्यापार में समष्टीकरण करता है। यह ज्ञान सर्वदा मन या आत्मा के व्यापार का सूचक है। मन का यह व्यापार असम्बद्ध या नियमशून्य नहीं है। यह बात सत्य और असत्य तत्त्व, ज्ञान और भ्रम, तथा भिन्न-भिन्न विज्ञानों की विद्यमानता से सिद्ध ही है। ग्रीन का मत है कि जिस तत्त्व का हमें ज्ञान होता है वह एक ज्ञेय तत्त्व है, एक वैज्ञानिक संस्था या आत्मिक जगत् है। ऐसे जगत् की व्याख्या एक आध्यात्मिक सत्ता द्वारा ही की जा सकती है जिसके कारण यह सब सम्बन्ध सम्भव है और जो स्वयं इन सम्बन्धों से अलग है। यह एक स्वयम्भू और अनादि आत्मचेतना है जो उन सब वस्तुओं का समस्त ज्ञान रखती है जिसका आंशिक ज्ञान मनुष्य को होता है। यही स्वयम्भू तथा अनादि आत्मचेतन ईश्वर है। किसी अंश में ईश्वर की आत्मचेतना का अंश मनुष्य में भी है। यही अंश सदाचार और धार्मिकता का आधार है। इसी से अमरत्व के विश्वास की पुष्टि होती है। क्योंकि, जो आत्म-चेतनावाली सत्ता है उसके लिए ऐसा समझना समीचीन नहीं है कि यह नष्ट हो

जाय; इसमें अमरत्व का अंश भी आना चाहिये।'

हम इतने बड़े उद्धरण के लिए पाठकों से क्षमा माँगते हैं। बिना इस सबका उल्लेख किये ग्रोन महोदय का यथार्थ मत समझने में भ्रम होने की सम्भावना थी और अब भी यदि हम अपनी निर्बलता के कारण इसको स्पष्ट न कर सके तो पाठकों को ग्रीन महोदय की पुस्तकों को पढ़ना चाहिये। परन्तु इस सबसे हमारा तात्पर्य केवल यह दिखाना है कि शरीर की उत्पत्ति से बहुत पूर्व हम जीव का अस्तित्व पाते हैं और यह हमारा अन्ध-विश्वास न होगा यदि हम जीव को शरीर के समान नश्वर न मानें।

अब इसके साथ ही एक प्रश्न उठता है और इसका उठना स्वाभाविक ही है, वह प्रश्न यह है कि यदि जीव अनादि और अमर है तो क्या इसका दैहिक सम्बन्ध इक आकस्मिक बात है या स्वाभाविक? अनन्त जीवन की अपेक्षा तीन-चार सौ वर्ष के दीर्घजीवी प्राणी का जीवन भी क्षणिक प्रतीत होगा। जो लोग आत्मा को अमर मानते हुए केवल एक ही शारीरिक जीवन पर विश्वास रखते हैं, वे जीवन की किसी मौलिक समस्या को हल नहीं कर सकते। हममें से कोई-कोई तो एक दिन का ही होकर मर जाता है। कोई दो-चार वर्ष रहते हैं। बहुत कम ऐसे हैं जो अस्सी वर्ष की अवस्था तक पहुँच पाते हों। यदि यही जीवन एकमात्र दैहिक जीवन है तो प्रश्न होता है कि रेत के समुद्र में एक जलबिन्दु की क्या आवश्यकता? फिर उन धार्मिक लोगों का तो कहना ही क्या जो इस क्षणिक जीवन के कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य, सदाचार-अनाचार को शेष अनन्त भावी जीवन के सुख-दुःख का कारण मान बैठे हैं! अनन्त स्वर्ग, अनन्त नरक का आधार एक सात वर्ष की आयु वाले बालक के भोलेपन के प्रेरित हुए आचार-अनाचार को मान बैठना कोई बुद्धिमत्ता नहीं है। यदि मानवी बुद्धि ऐसी वस्तु है जो सत्य-असत्य का निर्णय कराने के लिए है तो ऐसी बुद्धि कभी ऐसी अनर्गल बातों को स्वीकार नहीं कर

सकती।

वैदिक शास्त्रों ने इस समस्या का समाधान इस प्रकार किया है कि एक शरीर के पश्चात् दूसरा शरीर मिलता रहता है। इसी को आवागमन, अथवा पुनर्जन्म का सिद्धान्त कहते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार मृत्यु और जन्म दो जीवनों के बीच के द्वारमात्र हैं। एक शरीर को छोड़ा और दूसरा शरीर मिल गया। जिस प्रकार जीवात्मा का निज आत्मिक जीवन अनादि और अनन्त है, उसी प्रकार शारीरिक जीवन का प्रवाह अनादि और अनन्त है। जीवात्मा स्वयं तो स्वरूप से अजर है, परन्तु उसका शरीर प्रवाह से अजर और अमर है। प्रत्येक शरीर का आदि और अन्त है, परन्तु इस प्रवाह या सिलसिले का आदि और अन्त नहीं है।

कुछ लोगों को पुनर्जन्म का सिद्धान्त मान्य नहीं है। वे कहते हैं कि इसका कोई प्रमाण नहीं। परन्तु यदि कोई ऐसा मनुष्य है जिसको यह विश्वास है कि 'मैं' कभी बालक था और अब वही 'मैं' युवा हूँ, तो जो कुछ प्रमाण उसके इस निज (Identity) के लिए है, वही प्रमाण जीवात्मा के एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में प्रवेश होने के लिए भी है। कुछ ऐसे भी लोग हैं जैसे ह्यूम, जिन्होंने इस अनन्यत्व का खण्डन किया है। उसने सर्व-साधारण में प्रचलित अनन्यत्व के अर्थों का विश्लेषण करके यह दिखाया है कि हमारे बालकपन और वृद्धावस्था में कोई ऐसी चीज़ नहीं है जिसको 'अनन्य' या 'वही' कह सकें, क्योंकि दशाएँ इतनी परिवर्तित होती रहती हैं कि बुड्ढे देवदत्त की कोई भी बात शेष नहीं रहती, न रूप, न स्वभाव, न ज्ञान, न इच्छाएँ, न प्रवृत्तियाँ, न वृत्तियाँ। परन्तु ह्यूम भी एक बात का खण्डन नहीं कर सका, अर्थात् वह यह नहीं कह सका कि अनन्यत्व का भाव भी नहीं है। माना कि बुड्ढे देवदत्त का वही शरीर नहीं है जो बालक देवदत्त का, माना कि उसके ज्ञान आदि भी वही नहीं हैं, परन्तु यह तो मानना ही पड़ेगा कि बुड्ढे देवदत्त में यह भाव उपस्थित है कि मैं वही हूँ जो पचास वर्ष पहले सड़क पर खेला

करता था। पाठकवर्ग ! यदि आप बुड्ढे हैं और यदि आप अपने बालकपन के क्रीड़ा-स्थल को देखते हैं तो क्या आप यह नहीं कहते कि मैं पहले यहाँ खेल करता था ? यह भाव कहाँ से आया ? क्या किसी ने ऊपर से सिखा दिया ? क्या यह दार्शनिक भूल-भुलैयों के कारण है ? क्या किसी भ्रलमूलक फ़िलॉसफ़र ने ऐसा भाव उत्पन्न कर दिया ? नहीं, यह तो स्वाभाविक है ! और जबतक ह्यूम या उनके साथी सन्देह उत्पन्न न कर दें, तबतक बना रहेगा। यही नहीं, इससे भी अधिक यह बात है कि सन्देहवादी भी व्यवहार में ऐसा ही मानते हैं। यदि ह्यूम किसी स्थान में सैर को जाते और फिर घर को लौटते तो वह भी यही कहते कि मैं इस मकान का स्वामी हूँ जिसने यह मकान बनवाया था, अमुक वस्तु खरीदी थी, इत्यादि। यह अनन्यत्व का भाव प्राणी के साथ सदा लगा रहता है और यह पुनर्जन्म का सूचक भी है। यही कारण है कि किसी युग में भी लोगों ने पुनर्जन्म के सिद्धान्त से सर्वथा इनकार नहीं किया। ऑब्री (Obry) ने अपनी पुस्तक 'Du Nirvana Indien' (डू निर्वाण इण्डियन) में ठीक लिखा है कि—

"This old belief has been held all round the world and was spread in the remote antiquity to such an extent that a learned English churchman has declared it to be fatherless, motherless and without genealogy."

"यह पुराना विश्वास जगत्-व्यापी है और प्राचीन-से-प्राचीन समय तक पाया जाता है। यहाँ तक कि इंग्लैण्ड के एक पादरी को कहना पड़ा कि इस विश्वास के माता-पिता और पूर्वजों का पता नहीं चलता अर्थात् यह सिद्धान्त आदिकाल से ही प्रचलित है।"

वस्तुत: यह सिद्धान्त मुसलमानों, ईसाइयों और यहूदियों को छोड़कर और सब में प्रचलित था। पुराने मिश्री भी इसको मानते थे। अमेरिका के प्राचीन निवासी, जिनको रेड-इण्डियन कहते हैं, और आस्ट्रेलियावालों में भी यह सिद्धान्त मान्य था।

अमेरिका का एक लेखक लिखता है—

"What resists this belief is Judaism together with the two religions which have sprung from it because they teach the creation of man out of nothing and they have the hard task of linking on to this belief and endless existence *a parte post*. They certainly have succeeded with fire and sword, in driving out of Europe and a part of Asia that consoling primitive belief of mankind, it is still doubtful for how long. Yet how difficult it was is shown by oldest church histories. Most of the heretics were attached to this belief. For example Simonests, Basilidias, Valentinians, Marcionists, Gnostics, and Manicheans. The Jews themselves have in part taken into it, as Tertullian and Justinus inform us. In the Talmud it is related that Abel's soul passed into the body of Seth, and then into that of Moses. Even the passage of the Bible' Mathew XVI (13-15) only obtains a rational meaning if we understand it as spoken under the assumption of the dogma of metempsychosis."

(Short view on great Questions)

"इस सिद्धान्त के विरुद्ध केवल यहूदी धर्म और वे धर्म हैं जो यहूदी धर्म से निकले हैं, क्योंकि उनका सिद्धान्त है कि मनुष्य की उत्पत्ति अभाव से हुई है। विचित्र बात यह है कि साथ-ही-साथ वे यह भी मानते हैं कि जीवात्मा अमर है और अविनाशी है। यह सत्य है कि वे अग्नि और तलवार के बल से यूरोप तथा एशिया के एक भाग से मनुष्यजाति के इस आदिम और शान्तिप्रद सिद्धान्त को बहिष्कृत करने में सफल हुए हैं, किन्तु यह संदिग्ध बात है कि वे कितने दिन तक सफल रहेंगे। इसमें इनको कितनी कठिनाई हुई, इसकी प्राचीन ईसाई धर्म के इतिहास से भली-भाँति साक्षी मिल जाती है, क्योंकि बहुत-से विरोधी इस (पुनर्जन्म के) सिद्धान्त को मानते थे। उदाहरण के लिए साइमोनेस्ट, बेसीलीडियन, वैलेण्टीनियन, मार्शनिस्ट, नॉस्टिक (ज्ञेयवादी) तथा मैनीचियन, (ये उन ईसाई